श्री

अम्बादास चवरे दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला-३

मुनि रामसिंह विरचित

पाहुडदोहा

जैन रहस्यवाद विषयक अपभ्रंश ग्रंथ

भूमिका, अनुवाद, शब्दकोश, टिप्पणी आदि सहित

सम्पादक

हीरालाल जैन, एम्. ए., एल एल. बी.,

संस्कृताध्यापक, किंग एडवर्ड कालेज, अमरावती,

भूतपूर्व रिसर्च स्कॉलर, अलाहाबाद यूनीवर्सिटी.

प्रकाशक

गोपाल अम्बादास चवरे,

संस्थापक, कारंजा जैन पब्लीकेशन सोसायटी,

कारंजा (बरार).

१९३३.

वीर निर्वाण संवत् २४५९] [विक्रम संवत् १९९०.

श्री

दास चवरे दिगम्बर जैन ग्रन्थमा

मुनि रामसिंह विरचित

पाहुडदोहा

जैन रहस्यवाद विषयक अपभ्रंश ग्रंथ

ग, अनुवाद, शब्दकोश, टिप्पणी आदि स

सम्पादक

हीरालाल जैन, एम्. ए., एल एल. बी.,

संस्कृताध्यापक, किंग एडवर्ड कालेज, अमरा

भूतपूर्व रिसर्च स्कालर, अलाहाबाद यूनी

प्रकाशक

गोपाल अम्बादास चवरे,

संस्थापक, कारंजा जैन पब्लीकेशन सोसायटी,

कारंजा (बरार)

THE

AMBADAS CHAWARE

DIGAMBARA JAINA GRANTHAMALA.

OR

Karanja Jaina Series

Edited-

With the co-operation of various scholars.

By

Hiralal Jain, M. A., L L. B.,
King Edward College, Amraoti.

Volume III

Published by

Gopal Ambadas Chaware

FOR

Karanja, Jaina Publication Society,

Karanja, Berar (India)

Pahuda Doha

OF

RAMASIMHA MUNI

An Apabhramsa work on Jaina mysticism

Critically edited

With Introduction, Translation, Glossary Notes and Index.

By

Hiralal Jain, M. A., LL. B.,
Central Provinces Educational Service,

King Edward College, Amraoti;
Sometime Research Scholar, Allahabad University

1933

प्रकाशक

गोपाल अम्बादास चवरे,

मर्चेंट एन्ड बैंकर, कारंजा (बरार)

काशु समाहि करउँ को अंचउँ
छोपु अछोपु भणिवि को वंचउँ ।
हल सहि कलह केण सम्माणउँ
जहिं जहिं जोवउँ तहिं अप्पाणउ ॥ १३९ ॥

देवलि पाहणु तित्थि जलु पुत्थइं सव्वइं कव्वु ।
वत्थु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु ॥ १६१ ॥

मुद्रक

टी. एम्. पाटिल,

मैनेजर, सरस्वती पावर प्रेस,

अमरावती (बरार)

PREFACE

Dohāpāhuda represents the same variety of Apabhramsa as is found in Sāvayadhammadohā already issued as the second volume of this series, and which is exactly the language so well explained and exemplified by Hemacandra in his Prakrit grammar. It is highly interesting, in this connection, to note that four verses quoted by Hemacandra occur almost verbatim in the present work. We are thus slowly tracing the verses quoted in that epoch-making grammar back to their original sources, as more and more literature of this kind is coming to light.

The subject-matter of the work is Jaina mysticism and in this respect, as well as in the form of its poetry, it has similarities with the Buddhist *Caryāpādas* of Krishna, Dombi, Vinā, Saraha and Gundari, and the *Dohākoshas* of Saraha and Kanhupāda. With those works it has many symbolistic terms in common such as *Ravi, Shashi, Vāma, Dakshina, Shiva* and *Shakti.*

Besides this, the work has striking affinities in its subject-matter, as well as form, with the works of Jaina authors such as *Kundakunda, Yogindra, Devasena,* and *Shrutasāgara.* As the work has very many verses in common with the Paramātma-prakāsha and Yogasāra of Yogindradeva, it has been surmised to have been produced by the same author, but the work itself mentions *Rāmasimha muni* as its author and there is, so far, no convincing evidence to disprove his authorship. With regard to the verses which it has in common with the works of Yogindradeva,

it is difficult, at present, to say who the borrower and who the original author is, but as Yogindradeva has enjoyed celebrity for a long time, one feels inclined to give him the credit. As verses from this work are quoted by Hemacandra who wrote about 1100 A. D., and as it quotes verses from Sāvayadhamma-dohā which was composed about 933 A. D. the present work may be taken to have been produced about 1000 A. D.

I have discussed at some length the question of the relationship between 'Deshi bhāshā' and Apabhramsa, raised by Dr. Jules Bloch in his letter to me, and the various references which have been collected, tend to show that authors have been using the two names as mutually interchangeable. It is noteworthy that the poets themselves have called their language Deshi bhāshā and have never liked to use the word Apabhramsa for their language while grammarians have called it invariably by the latter name.

As in the case of Sāvayadhamma-dohā, I have tried in my translation to be as literal and as close to the Apabhramsa form as possible, even at the sacrifice, sometimes, of the Hindi idiom. This, I hope, will be appreciated by those who wish to study the language. I have frequently added explanatory notes to the translation besides the elucidation and discussion of the texts separately in the *tippanis.* I have tried to make the glossary complete in the matter of entries as well as references.

The text has been critically edited from two manuscripts, one secured from Delhi and the other from Kolhapur.

I have also kept in view the readings of some verses as found in other works. But these have been noticed in the tippanis and not incorporated in the variants. It is for the readers to judge how far I have succeeded in presenting a correct text from the scanty materials available. So little of this literature has, up till now, seen the light of day as compared to what is in store, that I am prepared, almost expect, to modify my views in any direction in future.

King Edward College
Amraoti.
12th December 1933.

Hiralal Jain.

विषय-सूची.

पृष्ठ

भूमिका

१. संशोधन सामग्री

पाहुडदोहा का प्रस्तुत संस्करण दो प्राचीन प्रतियों पर से तैयार किया गया है। ये प्रतियां मुझे क्रमशः पन्नालालजी अग्रवाल, दिल्ली, व प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, कोल्हापुर, द्वारा प्राप्त हुई थीं। अतएव मैं उक्त सज्जनों का बहुत उपकार मानता हूं।

इन प्रतियों का परिचय निम्न प्रकार है—

द.

यह प्रति दिल्ली के नये मंदिर की है। इसका पता हमें अनेकान्त में प्रकाशित श्रीयुक्त जुगलकिशोर जी मुख्तार के एक नोट से चला। इसकी पत्र संख्या १२; आकार ११" × ५$\frac{१}{४}$"; पंक्तियां प्रति पृष्ठ ११; वर्ण प्रति पंक्ति लगभग ३६; हासिया ऊपर नीचे $\frac{३}{४}$", दांये बांये १$\frac{१}{४}$" है। यह प्रति प्रायः शुद्ध है और अच्छी दशा में रक्षित रही है। कागज पीला, पतला है किन्तु अभी खराब नहीं हुआ।

प्रारम्भ — अथ पाहुडदोहा लिष्यते।

अन्तें — इति श्री मुनि रामसीह विरचिता पाहुडदोहा समाप्तं ॥

मिती पौष शुक्ल ६ शुकरवार संवत् १७९४॥ लिपतं विरजभान श्रावग पाणीपथनगरमध्ये शुपाठनार्थं॥ श्री शुभं अस्तु कल्याणं अस्तु॥

इससे विदित हुआ कि यह प्रति आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व पानीपत में लिखी गई थी। इसमें दोहों की संख्या २२० है। दोहा नं. ७९ और १४२ नहीं हैं। हमने अपनी प्रथम कापी इसी प्रति पर से तैयार की थी।

क.

यह प्रति एक गुटके के अन्तर्गत है इस गुटके में और भी कई छोटी मोटी संस्कृत प्राकृत रचनाओं का संग्रह है। इसका परिचय श्रीयुक्त उपाध्ये जी, अनेकान्त में प्रकाशित, अपने एक लेख में दे चुके हैं। इसका आकार ५½" × ५" है। इस गुटके की दशा बड़ी शोचनीय है। प्रारम्भ के सात आठ पन्ने गायब हैं और अंत के दस बारह पन्ने अधकट हो गये हैं। बीच के पन्ने यत्र तत्र दीमक के भक्ष्य हुए हैं। कितने ही पन्नों की स्याही उड़ गई है जिससे कहीं कहीं पढना दुःसाध्य और कहीं कहीं असम्भव है।

पाहुड दोहा इस गुटके के पृष्ठ ६२ से ८१ तक है। उसके पूर्व कुछ सैद्धान्तिक गाथाएँ लिखी हुई हैं और पश्चात् योगीन्द्रदेव कृत परमात्मप्रकाश है।

प्रारम्भ—ऊं नमः सिद्धेभ्यः।

अन्त–इति श्री योगेन्द्रदेवविरचित दोहापाहुडं नाम ग्रंथं समाप्तं।

गुटके में कहीं संवत् आदि का उल्लेख नही मिला, इससे यह कहना कठिन है कि यह प्रति कितनी पुरानी है। श्रीयुक्त उपाध्ये ने इसे लगभग दो सौ वर्ष पुराना अनुमान किया है। मेरा भी यही अनुमान है। यद्यपि गुटके की हालत देखकर कोई इसे और भी अधिक पुराना अनुमान करेगा, किन्तु विचार पूर्वक अवलोकन से ज्ञात होता है कि गुटके की यह दुरवस्था उतनी काल के प्रभाव से नही जितनी असावधानी से रखे जाने के कारण हुई है। सम्भवत: यह गुटका किसी श्रावक के घर में रहा है, वह पठन पाठन के लिये हाथों हाथ आता जाता रहा है, तथा खुला रखा रहने के कारण उसे सींड और दीमक का परीषह भी सहना पड़ा है।

इस गुटके की बीच बीच में कुछ पंक्तियां लाल स्याही से लिखी गई हैं। यह स्याही कई जगह बुरी तरह उड़ गई है। बीच बीच में तो पन्ने के पन्ने अपाठ्य हो गये हैं। इस कारण इसके पाठों का मिलान करने में बड़ी कठिनाई का अनुभव हुआ। पाहुड दोहा की और अधिक प्रतियां नही मिल सकीं इस कारण मैंने इसके पाठों को पढने तथा उन्हे प्रस्तुत संस्करण में देने का भरसक प्रयत्न किया है। तथापि उपर्युक्त कठिनाई के कारण कुछ स्थानों पर इसके पाठ जानने में मैं असफल ही रहा, जैसा कि संस्करण की पाद-टिप्पणियों से पाठकों को ज्ञात हो जावेगा।

द. प्रति से इस प्रति की मुख्य विशेषतायें ये हैं—

१. इसमें दोहा नं. ६४ नही है, तथा दोहा ७९ और १४२ अधिक हैं। नं. ७ दो दोहों पर दिया गया है, और इस तरह से अन्तिम दोहे पर नं. २२० आया है यद्यपि यथार्थतः दोहों की संख्या २२१ है।

२. कुछ दोहों का क्रम विपरीत है जैसे ६ और ७; २० और २१; २२ और २३.

३. लिपिकार की असावधानी के कारण कहीं कहीं दोहों के एक, दो या तीन चरण छूट गये हैं। उदाहरणार्थ देखिये दोहा १३९ व १६६ की पाद-टिप्पणियां।

४. ण के स्थान पर न का प्रयोग बहुत हुआ है किन्तु यह पाठभेद देने की हमने आवश्यकता नही समझी।

५. इसके पाठों में कुछ संयुक्ताक्षर ऐसे पाये जाते हैं जो हेमचन्द्र ने स्वीकार किये हैं किन्तु प्राप्त अपभ्रंश ग्रंथों में कम पाये जाते हैं—जैसे लिंगाग्रहण, दाम्वणु, एम्वइ। ये पाठ अन्य पाठान्तरों के समान पाद—टिप्पणियों में दिये गये हैं।

पाठ-संशोधन का पूरा कार्य इन्ही दो पोथियों के आधार पर किया गया है जिनमें से भी एक पोथी की ऐसी दुर्दशा है। अतएव किसी किसी दोहे के संशोधन में मुझे स्वयं पूर्ण संतोष

नहीं है। किन्तु मेरा ऐसा ध्यान है कि अधिकांश ग्रंथ के दोहों का पाठ असंदिग्ध रूप से इस संस्करण में निश्चित हो गया है।

जैसा कि आगे चलकर बतलाया जायगा, इस ग्रंथ के अनेक दोहे परमात्मप्रकाश में व कुछ दोहे योगसार तथा हेमचन्द्र कृत प्राकृत व्याकरण में मुझे मिले हैं। किन्तु इन ग्रंथों के पाठभेद अंकित नहीं किये गये। आवश्यकतानुसार उन पाठभेदों का टिप्पणी में उपयोग किया है।

२. ग्रन्थ का नाम

इस ग्रंथ के नाम के साथ जो दोहा शब्द लगा है वह उसके छंद का बोधक है। जैनियों ने पाहुड शब्द का प्रयोग किसी विशेष विषय के प्रतिपादक ग्रंथ के अर्थ में किया है। कुन्दकुन्दाचार्य के प्रायः सभी ग्रन्थ 'पाहुड' कहलाते हैं, यथा समयसारपाहुड, प्रवचनसारपाहुड, भावपाहुड, बोधपाहुड इत्यादि। गोम्मटसार जीवकाण्ड की ३४१ वीं गाथा में इस शब्द का अर्थ अधिकार बतलाया गया है 'अहियारो पाहुडयं'। उसी ग्रंथ में आगे समस्त श्रुतज्ञान को पाहुड कहा है। इससे विदित होता है कि धार्मिक सिद्धान्त-संग्रह को पाहुड कहते थे। पाहुड का संस्कृत रूपान्तर प्राभृत किया जाता है जिसका अर्थ उपहार है। इसके अनुसार हम वर्तमान ग्रंथ के नाम का अर्थ 'दोहा का उपहार' ऐसा ले सकते हैं।

३. पाहुडदोहा का विषय व शैली:

प्रस्तुत ग्रंथ के कर्ता भारतवर्ष के उन कवियों में से एक थे जिन्होंने समय समय पर भौतिक सुखों में भूले हुए पुरुषों को एक उच्चतर सुख का मार्ग बताने, तथा धर्म के नाम पर सारहीन क्रिया काण्ड व अन्धविश्वास में डूबे हुए व्यक्तियों का उद्धार करने का प्रयत्न किया है और आर्य-सभ्यता पर आध्यात्मिकता की एक गहरी छाप लगा दी है। जैनियों के तीर्थंकरों ने खास तौर से उपभोग की अपेक्षा त्याग और कर्मकांड की अपेक्षा स्वानुभव के श्रेष्ठ माहात्म्य को चरितार्थ किया है। ऐसे ही उपनिषदों के रचयिता वे ऋषि थे जिन्होंने जोरदार आवाज में यह घोषणा की, कि—

> एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते ।
> दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
>
> अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
> महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥
>
> यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रंथय : ।
> अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥

गत दो अढाई हजार वर्षों में ऐसे आचार्य और साधु मुनि होते आये हैं जिन्होंने भिन्न भिन्न समय पर, अलग अलग रूप में, नई नई भाषाओं द्वारा, पृथक् पृथक् समाज में, इसी संदेश को

घोषणा की है। जैन समाज में ऐसे मुनि महात्माओं का बाहुल्य रहा है। प्रस्तुत ग्रंथ के रचयिता भी इसी कोटि के थे। उन्होंने अपना गुरु माना है प्रकाशदाता को। यदि सूर्य से प्रकाश आता है तो वह गुरु है, यदि चन्द्र से प्रकाश आता है तो वह गुरु है, और यदि किसी ज्ञानी से प्रकाश आता है तो वही गुरु है। उनका उपदेश है कि सुख के लिये बाहर के पदार्थों पर अवलम्बित होने की आवश्यकता नहीं है, इससे तो केवल दुःख और संताप ही बढ़ेगा। सच्चा सुख इन्द्रियों पर विजय और आत्मध्यान में ही मिलता है। यह सुख इंद्रियसुखाभासों के समान क्षणभंगुर नहीं है, किन्तु चिरस्थायी और कल्याणकारी है। आत्मा की शुद्धि के लिये न तीर्थ जल की आवश्यकता है, न नानाप्रकार का वेष धारण करने की। आवश्यकता है केवल, राग और द्वेष की प्रवृत्तियों को रोक कर, आत्मानुभव की। मूंड मुडाने से, केशलौच करने से या नग्न होने से ही कोई सच्चा योगी और मुनि नहीं कहा जा सकता। योगी तो तभी होगा जब समस्त अंतरंग परिग्रह छूट जावे और मन आत्मध्यान में लवलीन हो जावे। देवदर्शन के लिये पाषाण के बड़े बड़े मन्दिर बनवाने तथा तीर्थों तीर्थ भटकने की अपेक्षा अपने ही शरीर के भीतर निवास करने वाले देव का दर्शन करना अधिक सुखप्रद और कल्याणकारी है। आत्मज्ञान से हीन क्रियाकांड कणरहित तुष और पयाल कूटने के समान निष्फल है। ऐसे व्यक्ति को न इन्द्रियसुख ही मिलता और न मोक्ष का मार्ग ही

ग्रंथकार ने अपना उपर्युक्त उपदेश अत्यन्त सरल, सरस और सुन्दर दोहों में रखा है। उन्होंने कहीं अपने भाषा-पाण्डित्य या विद्वत्ता को बतलाने का प्रयत्न नहीं किया, किन्तु दोहे दोहे में उनके गम्भीर विचारों तथा मानवीय दुर्बलताओं के ज्ञान का परिचय मिलता है। उनका उपदेश खासकर उन मूर्ख व्यक्तियों को है जो विना आत्मसंयम का अभ्यास किये व विना आत्मकल्याण के सच्चे मार्ग को जाने 'जोगिया' बन जाते हैं। उपमाओं और रूपकों का कर्ता ने खूब उपयोग किया है। उन्होंने मन को करहा (करभ ऊंट), देह को देवालय कुटी (कुडिल्ली) और आत्मा को शिव तथा इंद्रियवृत्तियों को शक्ति कह कर अनेक वार सम्बोधन किया है। करहा की उपमा कवि को बहुत ही प्रिय है। वह बहुत से दोहों में आई है और कहीं कहीं तो कवि ने उसे विस्तार से दर्शाया है। उदाहरणार्थ १११, ११२, ११३ दोहे देखिये। कहीं कहीं कवि के श्लेष और अन्योक्तियाँ मार्मिक हैं, जैसे दोहा नं. ११५, १४९, १५०, १५१, १५२. उनके दृष्टान्त भी सुन्दर और सरल होते हैं (देखो दोहा १५, ७१, १४६, १४७, १४८.) ग्रंथकार ने कुछ दोहों में देह और आत्मा के संयोग का प्रेयसी और प्रेमी के रूपक में वर्णन किया है (दोहा ९९, १००). यह शैली पीछे हिन्दी कविता में बहुत लोक प्रिय होगई और भक्त और आराध्य का प्रेयसी और प्रेमी के रूपक में बहुत वर्णन हुआ है। ग्रंथ में ऐसी उपमायें और उक्तिया बहुत हैं जो सार्वजनिक होने के लायक हैं तथा जो सम्भवतः कवि के समय में ऐसी रही हैं

४. पाहुडदोहा में रहस्यवाद

इस ग्रंथ के कर्ता एक योगी थे और योगियों को ही सम्बोधन कर के उन्होंने ग्रंथरचना की है। यद्यपि उनका सामान्योपदेश सीधा और सरल है किन्तु ग्रंथ के स्थल स्थल पर रहस्यवाद की छाप भी लगी हुई है। कर्ता के लिये देह एक देवालय है जिसमें अनेक शक्तियों सहित एक देव अधिष्ठित है। उस देव का आराधन करना, उसे पहचानना, उसमें तन्मय होना, एक बड़ी गूढ क्रिया है जिसके लिये गुरु के उपदेश और निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है। ग्रंथकार का गूढवाद समझने के लिये मैं पाठकों का ध्यान निम्न दोहों पर विशेष रूप से आकर्षित करता हूं—दोहा नं. १, ९, १४, ४६, ५३, ५५, ५६, ९४, ९९, १००, १२१, १२२, १२४, १२७, १३७, १४४, १५७, १६७, १६८, १७०, १७७, १८१, १८४, १८६, १८८, १९२, २०३, २१३, २१९, २२०, २२१. इन दोहों में जोगियों का आगम, अचित् और चित्, देहदेवली, शिव और शक्ति, संकल्प और विकल्प, सगुण और निर्गुण, अक्षर, बोध और विबोध, वाम, दक्षिण और मध्य, दो पथ, रवि, शशि, पवन और काल आदि ऐसे शब्द हैं, और उनका ऐसे गहन रूप में प्रयोग हुआ है, कि उनसे हमें योग और तांत्रिक ग्रंथों का स्मरण आये बिना नहीं रहता। यथार्थतः बिना इन ग्रंथों की सांकेतिक भाषा के अवलम्बन के उपर्युक्त दोहों के पूरे रहस्य का उद्घाटन नहीं होता

कहीं कहीं तो कुछ अर्थ ही समझ में नहीं आता। कोरा शब्दज्ञान काम नहीं देता, युक्ति थकित हो जाती है और बुद्धि भ्रमित होने लगती है। जब कवि 'णिम्मलि होइ गवेसु' कह कर चल देते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि वे हमें भ्रान्ति में डाल-कर, धोका देकर, भाग रहे हैं। टिप्पणी में कहीं कहीं इस योग और तंत्र के रहस्य का अति सूक्ष्म संकेत मात्र कर दिया गया है। इसका पूर्ण अध्ययन कर, रहस्य के उद्घाटन के लिये न तो इस समय मेरे पास यथेष्ट साधन हैं और न अवकाश है। इसलिये विषय के चित्ताकर्षक और मोहक होने पर भी उसे यहीं छोड़ना पड़ता है। किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस विषय में यह ग्रंथ ब्राह्मण और बौद्ध तांत्रिक कविता से समानता रखता है। इसी ग्रंथ के प्रायः समकालीन बौद्ध चर्यापद और दोहाकोषों में भी इसी प्रकार की, प्रायः इन्हीं सांकेतिक शब्दों में, और ऐसी ही अपभ्रंश भाषा में, कविता पाई जाती है।

५. पाहुडदोहा का अन्य ग्रंथों से सम्बन्ध

यों तो इस ग्रंथ में जो भाव प्रगट किये गये हैं उनसे ब्राह्मण साहित्य के उपनिषद् ग्रंथ तथा जैन साहित्य के प्रायः सभी आध्यात्मिक ग्रंथ ओतप्रोत हैं, तथापि निम्न ग्रंथों में, भाषा और भाव, दोनो दृष्टियों से कुछ असाधारण सादृश्य हमारे देखने में आया है जिसका यहां परिचय दे देना उपयुक्त प्रतीत होता है।

पाहुडदोहा और कुन्दकुन्दाचार्य

दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राचीनतम और उच्चतम आचार्य कुन्दकुन्द के सभी ग्रंथ आध्यात्मिक भावों से भरे हुए हैं, किन्तु उनके भाव पाहुड में विशेष रूप से वे भाव पाये जाते हैं जो प्रस्तुत ग्रंथ में आये हैं, तथा भाषा और रचना भी कहीं कहीं एक सी दिख जाती है। विशेषतः उल्लेखनीय गाथा ८६ है जिसमें 'सालिसित्थ' का उदाहरण उसी रूप से और उसी भाव में दिया गया है जैसा प्रस्तुत ग्रंथ के पांचवे दोहे में (देखो दोहा नं. ५ की टिप्पणी)। ४७ वीं गाथा तो यहां नं. २३ पर पूरी ही उद्धृत की हुई पाई जाती है (देखो दोहा नं. २३ की टिप्पणी)।

पाहुडदोहा और योगीन्द्रदेव

योगीन्द्रदेव के दो ग्रंथ—परमात्मप्रकाश और योगसार—बहुत दिन के प्रकाशित हो चुके हैं*। इन दोनों ग्रंथों और प्रस्तुत ग्रंथ में असाधारण साम्य है-केवल साम्य ही नहीं किन्तु इस ग्रंथ का लगभग पंचमांश भाग परमात्मप्रकाश में प्रायः ज्यों का त्यों पाया जाता है। दोहों का ऐक्य इस प्रकार है —

---

* **परमात्म प्रकाश**—सहारनपुर १९०९; रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई १९१६. अब पुनः संशोधन हो रहा है।

योगसार माणिकचंद्र ग्रंथमाला नं २१, बम्बई १९२२

पाहुड.	परमा.	पाहुड.	परमा.	पाहुड.	परमा.
२	२८५	३१	८२, ८८	७४	३१८
३	११८	३२	८३, ८९	७७	१६५
७	२५१	३३	७२	८०	योग. ४०
	योग. ५१	३४	७१	८४	२१०
८	२५२	३५	७०	९५	२८८
९	२५३	३७	७५	१०१	३०३
११	२५४	३९	४१	१०५	२५७
१२	२७५	४९	१२५	१०७	२८३
१३	२५८	५२	२५९	१३९	योग. ३९
१४	२९४	५७	१४४	१४७	२०१
	योग. ६१	६२	१२६	१४८	२३७
१७	२६९	६७	२८९	१६१	२६०
१८	२७९		योग. ७९	१८३	२९०
२३	६६	६८	९७	१८६	योग. ४२
२५	८०		योग. ३३	१८९	६८
२६	८१	६९	योग. ७०	१९२	२९१
२७-२८	९०-९२	७१	२०५	२०६	२२
२९	९३	७२	१९८		

(ऊपर पाहुडदोहा, परमात्मप्रकाश और योगसार के समान दोहों के अंक दिये गये हैं। परमात्मप्रकाश के अंक रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई, में प्रकाशित प्रति के अनुसार हैं। केवल दोहा ८४ का समरूप उक्त प्रति में नहीं है वह सन् १९०९ में बाबू सूरजभानु जी द्वारा प्रकाशित प्रति के नं. २१० पर है।)

विषय भी इन तीनों ग्रंथों का एक ही है, शैली भी वही

है और उक्तियां, उपामायें आदि भी एक सी ही हैं। सम्बोधन के लिये वही 'जोइया' और 'वढ' तथा देहरूपी देवालय और आत्मा रूपी शिव सभी में हैं। हां, करहा की उपमा, जो प्रस्तुत ग्रंथ में जगह जगह आई है, परमात्मप्रकाश में केवल एक ही जगह (दोहा २६६ में) पाई जाती है।

पाहुडदोहा और सावयधम्मदोहा

यद्यपि सावयधम्मदोहा और प्रस्तुत ग्रंथ में विषय की दृष्टि से कुछ भेद है, क्योंकि पूर्वोक्त ग्रंथ गृहस्थों के लिये लिखा गया है और प्रस्तुत ग्रंथ जोगियों के लिये, किन्तु भाषा और शैली दोनों की समान ही है। छोटे मोटे भावों, उपमाओं आदि व उक्तिओं आदि के साम्य के अतिरिक्त दो पूरे दोहे दोनों में समान हैं:—

पाहुड.	सावय.
४३	१२९
२१५	३०

पाहुडदोहा और श्रुतसागर

श्रुतसागर तथा उनकी षट्प्राभृत टीका का उल्लेख हम सावयधम्मदोहा की भूमिका में कर चुके हैं। इस टीका में पाहुड-दोहा के तीन दोहे थोड़े से हेर फेर के साथ उद्धृत पाये जाते हैं। यथा:—

पाहुड. १९ = भावपाहुडटीका गाथा १०८; पा. १४६ = भा. टी. १६२; पाहुड. १४७ = चरित्र पाहुड टीका गा. ४१.

पाहुडदोहा और हेमचन्द्र

सब से अधिक महत्वपूर्ण और चित्तग्राही इस ग्रंथ का सम्बन्ध हेमचन्द्राचार्य कृत प्राकृत व्याकरण से है। इस व्याकरण के चौथे पाद के अपभ्रंश सम्बन्धी सूत्रों के उदाहरण रूप इस ग्रंथ के कुछ दोहे हमें मिले हैं। ऐतिहासिक एवं पाठभेद की दृष्टि से ये सामञ्जस्य इतने उपयोगी हैं कि हम उन्हे यहां उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं:——

पाहुडदोहा	हेम. व्याकरण
सयलु वि को वि तडप्फडइ	साहु वि लोउ तडप्फडइ
सिद्धत्तणहु तणेण।	वड्डत्तणहो तणेण।
सिद्धत्तणु परि पावियइ	वड्डप्पणु परिपावियइ
चित्तहं णिम्मलएण ॥ ८८ ॥	हत्थिं मोक्कलडेण ॥ ३६६ ॥
छंडेविणु गुणरयणणिहि	जे छड्डेविणु रयणनिहि
अग्घथडिहिं घिप्पंति।	अप्पउं तडि घल्लंति।
तहिं संखाहं विहाणु पर	तहं संखहं विट्टालु परु
फुक्किज्जंति ण भंति ॥ १५१ ॥	फुक्किज्जंत भमन्ति ॥ ४२२/२
अखइ णिरामइ परमगइ	प्राइव मुणिहं वि भंतडी
अज्ज वि लउ ण लहंति	तें मणिअडा गणंति।

भग्गी मणहं ण भंतडी	अखइ निरामइ परम गइ
तिम दिवहडा गणंति ॥१६९॥	अज्ज वि लउ न लहंति ॥ ४१४/४
जिम लोणु विलिज्जइ पाणियहं ॥ १७६ ॥	लोणु विलिज्जइ पाणिएण ॥ ४१८/५
जइ इक्क हि पावीसि पय	जइ केवँइ पावीसु पिउ
अंकय कोडि करीसु ।	अकिआ कुड्ड करीसु ।
णं अंगुलि पय पयडणइं	पाणिउ नवइ सरावि जिवँ
जिम सव्वंगय सीसु ॥ १७७ ॥	सव्वंगें पइसीसु ॥ ३९६/४

हेमचन्द्राचार्य कृत व्याकरण में जो दोहे उदाहरण रूप से दिये गये हैं उनके सम्बन्ध में विद्वानों का यही मत है कि वे उस समय के प्रचलित साहित्य से लिये गये हैं। यह बात सत्य है कि हेमचन्द्र ने उन दोहों को कुछ परिवर्तित रूप में दिये हैं। किन्तु यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि जब एक विद्वान् वैयाकरण व्याकरण के निमयों की पुष्टि में कोई उदाहरण देगा जो वह उसकी जिह्वा से परिमार्जित होकर ही निकलेगा। दूसरे, हेमचन्द्र कवि भी थे, अतः उन्होंने दोहों को सार्वजनिक रुचि के अनुकूल बनाकर रखा है। हमारे दोहा नं. ८८ में उन्होंने जो परिवर्तन किया है वह उसे सर्वप्रिय बनाने की दृष्टि से ही किया है। उन्होंने 'सकल' की जगह 'साधु लोक,' 'सिद्धत्व' की जगह 'वडप्पन' और 'चित्तनैर्मल्य' की जगह 'मुक्त-हस्तता' अर्थात् दानशीलता का आरोपण कर दिया है जिससे दोहा आध्यात्मिक

क्षेत्र से निकल कर लौकिक क्षेत्र में आगया है। दोहे का शेष संगठन बिलकुल जैसा का तैसा रहा है।

हमारे दोहा नं. १५१ के दूसरे चरण का परिवर्तन केवल पाठभेद सा प्रतीत होता है। हमारे पाठ के 'थड' का अर्थ भी हेमचन्द्र के 'तड' (तट) के समान होता है, तथा 'घिप्पंति' और 'घल्लंति' भी यहां समानार्थ हैं। शेष दो चरणों का पाठ हेमचन्द्र के प्रकाशित व्याकरण में कुछ भिन्न है। हां, इतना अवश्य है कि 'विट्टालु' पाठ उसमें हेमचन्द्रजी ने अवश्य रखा है, क्योंकि उसी शब्द के उदाहरण रूप दोहा उद्धृत किया गया है। किन्तु उन चरणों का कुछ ठीक अर्थ नहीं लगता। इस व्याकरण के सम्पादक डॉ. वैद्य ने दोहे के सम्बंध में कहा है कि 'प्रसङ्ग के अभाव में दोहे का ठीक अर्थ नहीं बैठाया जा सकता'×। किन्तु यदि हमारे ग्रंथ का प्रसंग ध्यान में रखा जावे तो अर्थ स्पष्ट हो जाता है। अर्थ होगा 'वहां संखों की बड़ी दुर्गति (विट्टालु) होती है, वे फूंके जाते हैं, इसमें भ्रान्ति नहीं' या (हेमचन्द्र के पाठ के अनुसार) 'फूंके जाते और भ्रमते फिरते हैं'। प्रसंग सत्संग-त्याग के दुष्परिणाम का है यह हमारे ग्रंथ से स्पष्ट है।

दोहा नं. १६९ के दो चरणों में परिवर्तन किया गया है और दोहे के चरणों का क्रम बदल दिया गया है। हमारे दोहे के प्रथम दो चरण ज्यों के त्यों अन्तिम दो चरणों में रखे गये हैं।

× हेम प्राकृत व्याकरण, स डॉ वैद्य, नोटस पृ ६२

शेष दो चरणों में जो परिवर्तन किये गये हैं वे साभिप्राय हैं। प्राइव (प्रायः) का तो उदाहरण ही देना था इससे वह रक्खा गया है, और दिवहडा की जगह ' माणिअडा ' से अर्थ में बहुत कुछ विशेषता लाई गई है। इन परिवर्तनों के निर्वाह के लिये ' मणहं ' के स्थान पर ' मुणिहं ' कर दिया गया है।

जो अवस्था हमारे १५१ वें दोहे की हेमचन्द्र व्याकरण में हुई है, ठीक वही अवस्था हमारे दोहा नंबर १७७ के प्राप्त पाठ में पाई जाती है। अन्तिम दो चरणों का तो कुछ मतलब ही नहीं लगता। दोहे का अर्थ पहले ही से क्लिष्ट था, अतएव, जैसा मैं टिप्पणी में कह चुका हूं, लिपिकारों के अज्ञान से उसकी वह दुरवस्था हुई है। हेम. व्याकरण में उसका ठीक रूप रक्षित है। इन अवतरणों से हमारे ग्रंथ के रचनाकाल पर जो प्रकाश पड़ता है उसका अगले प्रकरण में उल्लेख किया जायगा।

अभीतक हेमचन्द्राचार्य के दोहों के मूल स्रोतों का कोई पता नहीं था। यह अत्यन्त महत्व की बात है कि अपभ्रंश साहित्य के प्रकाश में आने से अब उनका ठीक ठीक पता, धीरे धीरे, लग रहा है। तीन दोहे परमात्मप्रकाश में भी पाये गये हैं ×।

६ पाहुडदोहा के रचयिता

ग्रंथ के दोहा नं. २११ में ' रामसीहु मुणि इम भणइ '

× Annals of Bhand. Orien Re Inst. 1931, p 159 160.

वाक्य आया है, तथा द. प्रति की पुष्पिका में ये दोहे मुनि-रामसीह -विरचित कहे गये हैं। इससे ज्ञात होता है कि कोई रामसिंह नामधारी मुनि इस ग्रंथ के रचयिता हुए हैं। किन्तु क. प्रति की पुष्पिका में यह दोहापाहुड 'योगीन्द्रदेवविरचित' कहा गया है। इससे ग्रंथकर्तृत्व का प्रश्न कुछ जटिल हो गया है। यह हम देख ही चुके हैं कि प्रस्तुत ग्रंथ की योगीन्द्रदेव के अन्य दो ज्ञात ग्रंथों से भाषा और भाव में असाधारण समता है। इस सम्बंध में श्रीयुक्त उपाध्ये का बहुत ही नियन्त्रण पूर्वक एक संकेत है कि प्रस्तुत ग्रंथ कदाचित् योगींद्रकृत ही हो और रामसिंह केवल एक परम्परागत नाम हो, जैसा कि परमात्मप्रकाश (दोहा १८८) में 'अज्जउ संति भणेइ' में शान्ति का नाम पाया जाता है[1]। किन्तु जबतक और कोई सबल प्रमाण न मिलें तबतक इस ग्रंथ को योगीन्द्रदेव कृत मानना ठीक नहीं है। योगीन्द्र ने अपने परमात्मप्रकाश[2] व योगसार[3] में अपना नाम स्पष्ट रूप से अंकित कर रखा है[4]। हम सावयधम्मदोहा में देख चुके हैं कि किस प्रकार

---

1. A. N. Upadhye: Joindu and his Apabhransa works: Annals of Bhand. Orien. Re. Inst. Poona, 1931 p. 152.

२. परमात्मप्रकाश दोहा ८. ३. योगसार दोहा १०७.

४. एक और काव्य अमृताशीति (संस्कृत) के अन्त में योगीन्द्र का नाम मिलता है। पर इन दोनों कर्ताओं के एकत्व के सम्बंध में संशय है। मा ग्रंथमाला २१, पृ. १०१ व भूमिका.

ग्रंथ-साम्य के कारण योगीन्द्रदेव का नाम उस ग्रंथ के कर्ता के रूप में कुछ लिपिकारों ने लिखा है† । जहां ग्रंथ के अनेक दोहों के परमात्मप्रकाश और प्रस्तुत ग्रंथ में पाये जाने के आधार पर दोनों के ग्रंथ कर्ता एक ही अनुमान किये जाते हैं, वहां यह भी प्रश्न हो सकता है कि यदि सचमुच दोनों ग्रंथ एक ही कर्ता की रचनायें है तो ऐसी पुनरुक्ति से कर्ता का क्या अभिप्राय है? नियम तो यह है कि ग्रंथकर्ता सदैव ऐसे पुनरुक्तिदोष से बचने का प्रयत्न करते है। हां, एक आध उक्ति कभी दोनो में एक ही रूप से, विना जाने, आजाती है, या प्रसंग में बहुत उपयोगी कभी किसी वाक्य को दोहराना पड़ता है, किन्तु दोसौ बीस या बाइस दोहों में कोई चालीस दोहे अपने दूसरे ग्रंथ के प्रायः जैसे के तैसे रखना कवियों में सर्वथा अपूर्व या असाधारण है। अतएव जब तक और अधिक प्रमाण इस सम्बंध में हमें न मिल जावें तब तक प्रस्तुत दोहों के कर्ता ग्रंथ के भीतर निर्दिष्ट मुनि रामसिंह को ही मानना उचित है।

नाम पर से ये मुनि अर्हद्बलि आचार्य द्वारा स्थापित 'सिंह' संघ के अनुमान किये जा सकते हैं* । ग्रंथ में 'करहा' (ऊंट) की उपमा बहुत आई है तथा भाषा में भी 'राजस्थानी' हिन्दी

---

† सावयधम्मदोहा पृ. ।) और ।≈)॥.

* इंद्रनन्दि कृत नीतिसार ६—७; श्रवणबेलगोळा शिलालेख नं. १०५, २६ २७

के प्राचीन मुहावरे दिखाई देते हैं। इससे अनुमान होता है कि ग्रंथकार राजपुताना प्रान्त के थे। ग्रंथकार का इससे अधिक परिचय देने के लिये कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

७. पाहुडदोहा का रचनाकाल

प्रस्तुत ग्रंथ कब रचा गया, इस प्रश्न का निश्चित उत्तर देना तो कठिन है, किन्तु हम ऊपर जो इस ग्रंथ का अन्य ग्रंथों से सम्बन्ध बतला आये हैं, तथा इसमें भाषा का जो रूप पाया जाता है, उस पर से उसके रचनाकाल का स्थूल रूप से अनुमान करना अशक्य नहीं है। उपलब्ध दो हस्तलिखित प्रतियों में से एक संवत् १७९४ अर्थात् ईस्वी १७३७ की लिखी हुई है। अतएव ग्रंथ इससे पूर्व बन चुका था यह निश्चित है। इस ग्रंथ के जो तीन दोहे श्रुतसागर की षट्पाहुड टीका में उद्धृत पाये जाते हैं उससे सिद्ध होता है कि यह ग्रंथ श्रुतसागर से पूर्व बन चुका था। श्रुतसागरजी गुर्जरदेश के पट्टाधीश लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य थे, और लक्ष्मीचन्द्रजी का एक उल्लेख संवत् १५८२ का पाया जाता है+। श्रुतसागरजी इसी समय के लगभग हुए होंगे। अतः यह माना जा सकता है कि हमारा ग्रंथ उक्त संवत् अर्थात् ईस्वी १५२५ के लगभग वर्तमान था।

इसी प्रकार हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण में इस ग्रंथ के

+ माणिकचन्द्र २१, भूमिका

चार दोहे पाये जाने से सिद्ध होता है कि यह ग्रंथ उक्त आचार्य के पूर्व बन चुका था। हेमचन्द्र के समय के सम्बन्ध में कोई शंका नहीं है। उन्होंने अपने व्याकरण के अन्त में स्वयं कहा है कि वह ग्रंथ उन्होंने गुजरात के चालुक्यवंशी राजा सिद्ध-राज की अभ्यर्थना से लिखा। सिद्धराज गुजरात के राजसिंहासन पर सन् १०९३ ईस्वी में बैठे, और उन्होंने सन् ११४३ तक राज्य किया। सन् ११४३ में उनके उत्तराधिकारी कुमारपाल सिंहासन पर आये। अतः सिद्ध है कि हेमचन्द्र का व्याकरण सन् १०९३ और ११४३ के बीच में बना है। इससे प्रस्तुत ग्रंथ सन् ११०० से पूर्व का बना हुआ सिद्ध होता है।

जैसा श्रुतसागर की टीका और हेमचन्द्र के व्याकरण के सम्बन्ध में कह सकते हैं कि उनमें दोहे उद्धृत किये गये हैं वैसा परमात्मप्रकाश, योगसार और सावयधम्मदोहा के सम्बन्ध में नहीं कह सकते। इन ग्रंथों के समान दोहों के सम्बन्ध में तीन अनुमान किये जा सकते हैं। या तो प्रस्तुत ग्रंथ में से पूर्वोक्त ग्रंथों में वे दोहे उद्धृत किये गये हैं, या उन ग्रंथों में से प्रस्तुत ग्रंथ में उद्धृत किये गये है और या वे दोहे किसी और ही ग्रंथ से या प्रचलित दोहों में से उक्त सभी ग्रंथों ने लिये हैं। इस सम्बन्ध में निर्णायक प्रमाण हमारे पास कुछ नहीं है। हां, ग्रंथों के ही प्रसंग, शैली आदि पर से कदाचित् कुछ अनुमान किया जा सके कि किस ग्रंथ में वे दोहे उस ग्रंथ के अवश्यंभावी अंग है और किस

में वे आगन्तुक से ज्ञात होते हैं। जैसा हम ऊपर कह आये हैं, परमात्मप्रकाश, योगसार और प्रस्तुत ग्रंथ के प्रसंग और शैली में इतनी समानता है कि उन पर पूर्वोक्त कसौटी भी कुछ नहीं चलती। हां, योगीन्द्र का नाम बहुत समय से प्रसिद्ध और सुप्रतिष्ठित रहा है, उनके ग्रंथों पर संस्कृत हिन्दी टीकायें भी लिखी गई हैं, तथा अन्य अनेक टीकाकारों ने उनका उल्लेख किया है, इससे यही अनुमान करने को जी चाहता है कि उन्हीं के ग्रंथों से प्रस्तुत ग्रंथ में दोहे लिये गये हैं। पर यह विषय शंकास्पद ही है। यदि इस सम्बन्ध में कोई बात निश्चयतः कही भी जावे तो उससे प्रस्तुत ग्रंथ के रचना काल के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभी तक योगीन्द्रदेव के समय का भी निर्णय नहीं हुआ है। किन्तु सावयधम्म और प्रस्तुत ग्रंथ में जो दोहे मिलते हैं उनके सम्बन्ध में पूर्वोक्त कसौटी काम में लाई जा सकती है।

प्रथम, दोहा नं. ४३ को लीजिये। इसमें पांच इंद्रियों के संयम का और विशेषतः दो अर्थात् जिह्वा और परस्त्री-कामना के नियंत्रण का उपदेश दिया गया है। पांच इन्द्रियों का प्रसंग ऊपर से तो नहीं आया किन्तु नीचे के दोहों में पाया जाता है। पर जीभ और पराई नार के निवारण का उपदेश तो यहां बिलकुल अप्रासंगिक है। प्रथम तो जब यह कह दिया कि जिस बुद्धिमन् का मन अक्षयिनी

रामा में लग गया वह और कहीं कैसे रति कर सकता है, तब फिर नारी के निवारण के उपदेश का मतलब ही क्या रहा ? और यदि रहा भी तो 'पराई नार' का विशेषण तो यहां बिलकुल ही अयुक्त है। इस ग्रंथ का उपदेश जोगियों के लिये दिया गया है। ऊपर के ही दोहे में जोगी को सम्बोधन किया है। जोगी सस्त्रीक नहीं हुआ करते, अतएव यदि उनको उपदेश देना था तो 'पराई' विशेषण लगाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। स्पष्टतः यह उपदेश गृहस्थ के लिये है। उसे अपनी स्त्री को छोड़ अन्य स्त्रियों से विरक्ति का उपदेश दिया गया है। फिर जीभ-निवारण के उपदेश का तो यहां कोई प्रसंग ही नहीं है। वह बात यहां बिलकुल बेमेल जँचती है। इस प्रकार पूर्वापर प्रसंग पर दृष्टि डालने से यह दोहा प्रस्तुत ग्रंथ में आगन्तुक सिद्ध होता है। उसको यदि हम यहां से हटा दें तो भी प्रसंग में कोई बाधा नहीं पड़ती। अब इसी दोहे का सावयधम्म के २९ नं. पर विचार कीजिये। वहां उससे पूर्व कर्ता ने एक एक इंद्रिय में वशीभूत होने के दोष दिखाये हैं और फिर प्रस्तुत दोहे में उनके सम्बन्ध में सचेत होने का उपदेश दिया है। गृहस्थों को जीभ की लोलुपता और काम की प्रेरणा अधिक हुआ करती है। अतः इन दोनों इन्द्रियों के सम्बन्ध में कवि ने गृहस्थों को विशेष रूप से सचेत रहने का उपदेश दिया है। यहां यह दोहा स्वाभाविक है। उसके यहां से अलग करने में एक कमी का बोध होगा। अतएव मानना पड़ता है कि यह दोहा सावयधम्म का मूल अंग है

अब दोहा नं. २१५ पर विचार कीजिये। प्रथम तो इस दोहे का पाठ ही यहां शुद्ध नही मिला। इससे अर्थ ही बराबर नही बैठता। किन्तु इतना निश्चित है कि यहां कोई लोगों के यहां भोजन करने का निषेध किया गया है। पर कौन लोगों के यहां इस का कुछ ठीक पता ही नही चलता। पूर्वापर प्रसंग में उसका कुछ अर्थ ही नही बैठता। जिस रूप में वह दोहा है उसमें व्याकरण के दोष भी हैं। यही दोहा सावयधम्म में नं. ३० पर बहुत उपयुक्त और प्रसंगोपयोगी है। ऊपर के ही दोहे में बताया गया है कि मद्यमांस-भोजियों के संसर्ग से श्रद्धान में दोष उत्पन्न होता है। फिर प्रस्तुत दोहे में कहा गया है कि उनके घर में भोजन करना तो रहने ही दो, शिष्ट पुरुषों को उनसे बात भी नही करना चाहिये क्योंकि इससे सम्यक्त्व मलिन होता है। वही प्रसंग आगे के दोहे में चालू है और कहा गया है कि ऐसे गृहस्थों के वर्तन भांडे उपयोग में लाना भी अच्छा नही, इत्यादि। 'अच्छउ' का महावरा सावयधम्मकार की विशेषता है। आगे ३१ वें ही दोहे में वह फिर आया है, फिर १५० वें दोहे में भी आया है। किन्तु प्रस्तुत ग्रंथ में उसका ऐसा उपयोग अन्य कहीं नही है। अतः अनुमान होता है कि यह दोहा भी हमारे ग्रंथ में आगन्तुक है और सावयधम्म का वह मूल, आवश्यक अंग है।

अब हम कुछ दृढतापूर्वक कह सकते हैं कि ये दोहे पाहुडदोहाकार ने सावयधम्मदोह में से लिये हैं उपलब्ध

प्रमाणों पर से सावयधम्म को हम विक्रम संवत् ९९० अर्थात् ईस्वी ९३३ के लगभग बना हुआ सिद्ध कर चुके है। अतः अनुमान होता है कि पाहुड दोहा सन् ९३३ और ११०० के बीच में किसी समय अर्थात् सन् १००० ईस्वी के लगभग रचा गया है।

८. देशीभाषा और अपभ्रंश

प्रस्तुत ग्रंथ की भाषा वही है जिसका परिचय सावयधम्म दोहा की भूमिका में दिया जा चुका है। उसके सम्बन्ध में फ्रांस के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा. जुले ब्लॉक ने मुझे भेजे हुए अपने एक अनुग्रहपूर्ण पत्र में एक शंका उपस्थित की है। मैंने सावयधम्म की भाषा का परिचय देते हुए कीर्तिलता का एक पद्य उद्धृत किया है जिसके दो अन्तिम चरण हैं:—

देसिल वअना सब जन मिट्ठा।
तँ तैसन जम्पओ अवहट्ठा ॥

मैंने इस पद्य का कोई अनुवाद नहीं दिया किन्तु इस बात को परोक्षरूप से स्वीकार कर लिया था कि यहां 'देसिल वअना' और 'अवहट्ठा' का एक ही भाषा से तात्पर्य है। डा. ब्लॉक को इस समानार्थकता में शंका है*। उन्होंने अपनी शंका का कारण, परोक्ष रूप से, यह प्रगट किया है कि उक्त चरणों के

* 'As regards the identification Desi=Apabhransa, I feel some doubts Letter dated 30-11-32

अर्थ के सम्बन्ध में मतभेद है। मैं उन चरणों का संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार करूंगा—

'देशीवचनानि सर्वजनमिष्टानि
तद् तादृशं जल्पे अपभ्रष्टम्॥'

मुझे स्वयं इन पंक्तियों के अनुवाद के सम्बन्ध में कोई मतभेद तो देखने सुनने को नहीं मिले, किन्तु मैं समझता हूँ कि मतभेद का कारण 'तादृशं' शब्द हो सकता है। इस शब्द के साधारण अर्थ के अनुसार उक्त पंक्तियों का अर्थ होगा कि 'देशी बचन सब लोगों को मीठे हैं, इसलिये उसी के समान 'अपभ्रष्ट' भाषा में रचना करता हूं।' इस से 'देशी' और 'अपभ्रष्ट' एक भाषा सिद्ध नहीं हुई, किन्तु पृथक् होते हुए सदृश सिद्ध हुई। किन्तु मै 'तादृशं' का वैसा अर्थ नहीं करता। यहां तादृश का 'तदेव' के समान अर्थ है। उदाहरणार्थ 'यादृशं पुस्तके दृष्टं तादृशं लिखितं मया' का यह तात्पर्य नहीं है कि जो कुछ देखा उससे कुछ मिलता जुलता लिखा, किन्तु उसका अर्थ है जैसा देखा वैसा ही लिखा 'यदेव दृष्टं तदेव लिखितम्'। हिन्दी में भी तैसा व 'तैसन्' का 'तदेव' अर्थ होता है। 'जैसा बताया तैसा किया' का अर्थ जो बताया वही किया है, न कि जो बताया उससे भिन्न, किन्तु उससे कुछ मिलता जुलता, किया। अतएव उक्त पंक्तियों का 'देशीवचन सब जनों को मीठे होते हैं, इसलिये उसी अपभ्रंश में रचना करता हूँ,' ऐसा अर्थ करना चाहिये

इससे विद्यापतिजी के अनुसार देशी और अपभ्रंश एक ही भाषा ठहरती है। यदि वह भिन्न समझी जावें तो उनका कहना वैसा ही होगा जैसा कोई कहे कि 'दिल्ली शहर देखने लायक है इसलिये मैं उसके पास वाले शहर मथुरा को जा रहा हूं'।

अब हम इस विषय के ऐतिहासिक प्रमाणों पर दृष्टि डालेंगे।

अपभ्रंश शब्द का भाषा के सम्बन्ध में सबसे प्रथम उल्लेख हमें पातञ्जलि के महाभाष्य में मिलता है। वहां उन्होने कहा है 'एकस्यैव शब्दस्य बहवो **अपभ्रंशाः**। तद्यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतालिकेत्येवमादयोऽ**पभ्रंशाः**।' प्राकृत भाषा के प्राचीनतम व्याकरणकार चण्ड ने तथा प्राकृत व्याकरण के श्रेष्ठ प्रमाण हेमचन्द्र ने अपने अपने व्याकरणों में उक्त रूपों में से कुछ प्राकृत के सामान्य रूप स्वीकार किये हैं×। इससे ज्ञात हुआ कि पातञ्जलि ने संस्कृत से निकली हुई सभी भाषाओं को अपभ्रंश माना है, तथा जिन भाषाओं को हम आज अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि नाम देते हैं, पाताञ्जलि के मत से वे सभी अपभ्रंश कही जाना चाहिये।

भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के १७ वें अध्याय में प्राकृत व देशी भाषाओं के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है। संस्कृत से विकृत हुए रूप को वे प्राकृत कहते हैं और प्राकृत

× चण्ड 'प्राकृत लक्षण' २, १६, 'गो गाविः। हेम. 'प्राकृत व्याकरण २, १७४, 'गोणादय गौः, गोणो, गावी गाव, गावीओ.

भाषा में वे तीन प्रकार के शब्दों का प्रचलित होना स्वीकार करते हैं, समान (तत्सम), विभ्रष्ट (तद्भव) और देशी। वे पुनः कहते हैं कि प्रयोग में भिन्न भिन्न जातिभाषायें आती हैं जो म्लेच्छ शब्दों से युक्त होकर भारतवर्ष में प्रचलित हुई हैं। नाटक में सौरसेनी या इच्छानुसार देशभाषा का उपयोग करना चाहिये। मागधी, आवन्ती, प्राच्या, सूरसेनी, अर्धमागधी, वाल्हीका, और दाक्षिणात्या, ये सात भाषायें प्रसिद्ध हैं। शबर, आभीर, चाण्डाल, सचर, द्रविड, उद्रज, हीन और वनचरों की भाषायें नाटक में विभाषा मानी गई हैं। यथा—

एवं संस्कृतं पाठ्यं मया प्रोक्तं समासतः ॥
प्राकृतस्य तु पाठ्यस्य संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ १ ॥
एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् ।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥ २ ॥
त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः ।
समानशब्दै विभ्रष्टं देशीमतमथापि च ॥ ३ ॥

× × × ×

विविधा जातिभाषा च प्रयोगे समुदाहृता ।
म्लेच्छशब्दोपचारा च भारतं वर्षमाश्रितम् ॥ २८ ॥
अथ या जात्यन्तरी भाषा ग्रामारण्यपशूद्भवा ।
नानाविहगजा चैव नाट्यधर्मी प्रयोगजा २०

जातिभाषाश्रयं पाठ्यं द्विविधं समुदाहृतम् ।
प्राकृतं संस्कृतं चैव चातुर्वर्ण्यसमाश्रयम् ॥ ३० ॥

× × × ×

सौरसेनं समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके ।
अथवा छन्दतः कार्या देशभाषा प्रयोक्तृभिः ॥ ४६ ॥
मागध्यावन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी ।
बाल्हीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः ॥ ४७ ॥
शबराभीरचाण्डालसचरद्राविडोद्रजाः ।
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता ॥ ४९ ॥

—अध्याय १७.

यद्यपि इस अध्याय में दिए हुए भाषा सम्बन्धी भेद और प्रभेद कुछ भ्रमोत्पादक हैं, किन्तु मेरी समझ में भरतमुनि का मत यह है कि संस्कृत के अतिरिक्त दो प्रकार की भाषायें हैं, एक प्राकृत जिसमें संस्कृत के विकृत शब्द प्रयोग में आते हैं और इसलिये जिन्हें वे 'विभ्रष्ट' कहते हैं, और दूसरी देशी जिसमें संस्कृत प्राकृत के शब्द भी हैं तथा कुछ म्लेच्छ (अनार्य अर्थात् असंस्कृत) शब्द भी हैं। मुख्य देशी भाषायें (भाषा) मागधी, आवन्ती आदि सात हैं और गौड देशी भाषायें (विभाषा) शबर, आभीर, चाण्डालादि की अनेक हैं। स्मरण रखना चाहिये कि आभीरों की भाषा यहां एक देशी भाषा मानी गई है

काव्यादर्श के कर्ता दण्डी ने समस्त वाङ्मय के चार भेद किये हैं— संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र। ये चार भेद दण्डी से पूर्व ही माने जा चुके थे×। इन आचार्य ने अपभ्रंश के सम्बन्ध में जो बड़ी महत्वपूर्ण बात कही है वह यह है कि काव्य में तो आभीर आदि जातियों की भाषा ही अपभ्रंश मानी गई है, किन्तु शास्त्र में संस्कृत से अन्य सभी भाषायें अपभ्रंश कही गई हैं। शास्त्र से दण्डी का यहां तात्पर्य संभवतः भाषाशास्त्र अर्थात् व्याकरण से है और जान पड़ता है उन्होंने यह बात पातञ्जलि के उल्लेख को ध्यान में रख कर कही है। दूसरी उपयोगी बात उन्होंने यह कही है कि आभीरादि जातियों की भाषा में भी कविता होती है और यह कविता अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध है। यथा—

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंशतया स्मृताः।
शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥

इस प्रकार जिसे भरतमुनि ने देशी भाषा या विभाषा कहा है, उसी के काव्य को दण्डी और, उनके सामयिकों ने अपभ्रंश कहा है।

दण्डी के पश्चात् अलंकार शास्त्र के अनेक कर्ताओं, जैसे

× तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम् ॥ १ ३२

भामह[1]; रुद्रट[2], राजशेखर[3], नमिसाधु[4], वाग्भट[5] ने अपभ्रंश काव्य को संस्कृत और प्राकृत काव्य के साथ साथ स्वीकार किया है तथा कहीं कहीं अपभ्रंश को ही देशी भाषा कहा है। उदाहरणार्थ, रुद्रट भाषा के छह भेद करते हैं 'षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः'। इसी पर टीका करते हुए नमि साधु कहते हैं "तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः। स चान्यैरुपनागरा-भीरग्राम्यावभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति। कुतो देशविशेषात्। तस्य च लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्"। वाग्भट अपभ्रंश के सम्बन्ध में कहते हैं 'अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्'। राजशेखर ने भाषाओं को भिन्न भिन्न प्रदेशों में बांटते हुए कहा है 'सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्क-भादानकाश्च' अर्थात् अपभ्रंश का प्रयोग समस्त मरुभूमि, टक्क और भादानक (?) देशों में होता है। इन्ही टक्क और मरुभूमि की भाषाओं को राजशेखर के प्रायः समसामयिक, विलासवती कथा के कर्ता ने अठारह देशी भाषाओं के अन्तर्गत बताया है[6]। विष्णु-धर्मोत्तर के कर्ता ने स्पष्ट रूप से अपभ्रंश को देशभेद के अनुसार पृथक् पृथक् कहा है[7]।

---

१ काव्यालंकार १,१६. ३ काव्यमीमांसा पृ. ६, ४८—५४.

२ काव्यालंकार २,११—१२; ४ काव्यालंकार वृत्ति २,११.

५ वाग्भटालंकार २,१—३.

६ देखो अपभ्रंश काव्यत्रयी, बड़ोदा संस्कृत सीरीज ३७, भूमिका पृ. ९२—९३.

७ उपर्युक्त, भूमिका पृ ९६

उपर्युक्त समस्त उल्लेखों का सार यही है कि अपभ्रंश को ही देशभाषा और देशभाषा को अपभ्रंश नाम से साहित्याचार्य समझते और कहते आये हैं।

चंड, हेमचंद्र आदि प्राकृत के वैयाकरणों ने इस भाषा को अपभ्रंश ही कहा है और उसे अर्धमागधी, शौरसेनी व महाराष्ट्री के समान प्राकृत का एक अंग माना है। व्याकरण में उन्होने संस्कृत के शब्दों में जो विकार होकर इस भाषा के शब्द बनते हैं, उनके नियम तथा कारकरूपों, क्रियारूपों, धातु--आदेशों व अन्य शब्द-रचना के नियम दिये हैं। इन नियमों, तथा उनपर दिये हुए उदाहरणों, से सिद्ध है कि हमारे प्रस्तुत ग्रंथ तथा उसी समान पुष्पदन्तादि के ग्रंथों की भाषा वही अपभ्रंश है। जैसा हम ऊपर बता आये हैं, हमारे प्रस्तुत ग्रंथ के ही चार दोहे हेमचन्द्र के उदाहरणों में पाये जाते हैं।

हेमचन्द्र ने एक कोश भी रचा है जो 'देशीनाममाला' के नाम से प्रसिद्ध है, किन्तु जिसका नाम मूल ग्रंथ में देशी-शब्द-संग्रह पाया जाता है*। इस ग्रंथ में कर्ता ने कोई चार हजार देशी शब्दों के अर्थ दिये हैं। देशी से कर्ता का क्या तात्पर्य है यह उन्होने आदि में ही दो गाथाओं द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि—

* देखो , कलकत्ता यूनीवर्सिटी १९३१, भूमिका पृ. ३४.

जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु ।
ण य गउणलक्खणासत्तिसंभवा ते इह णिबद्धा ॥
देसविसेसपसिद्धीइ भण्णमाणा अणंतया हुंति ।
तम्हा अणाइ-पाइय-पयट्ट-भासा-विसेसओ देसी ॥

अर्थात् " मैंने इस कोश में उन्हीं शब्दों को एकत्र किया है जो 'लक्षण' में सिद्ध नहीं होते, न संस्कृताभिधानकोशों में प्रसिद्ध हैं, और न गौडी लक्षणा की शक्ति से सिद्ध होते हैं । खास खास देशों में बोली जाने वाली भाषायें अनन्त हैं, इसलिये यहां देशी शब्द का तात्पर्य उस विशेष भाषा से है जो अनादि काल से चली आई हुई प्राकृत से उत्पन्न हुई है । "

'लक्षण' शब्द की टीका में कहा गया है—" लक्षणे शब्दशास्त्रे सिद्धहेमचन्द्रनाम्नि ये न सिद्धाः प्रकृतिप्रत्ययादिविभागेन न निष्पन्नास्तेऽत्र निबद्धाः । ये तु वज्जर-पज्जर-उप्फाल-पिसुण-संघ-बोल्ल चव-जंप-सीस-साहादयः कथ्यादीनामादेशत्वेन साधिताः तेऽन्यैर्देशीयेषु परिगृहीता अप्यस्माभिर्न निबद्धाः । " इस नियम को कर्ता ने सर्वत्र निबाहने का प्रयत्न किया है । इस कोश की टीका में जगह जगह ऐसे स्थल मिलते हैं, जहां कर्ता ने कहा है कि अमुक शब्द अन्य कोशकारों ने अपने देशी कोश में लिया है किन्तु वह हमारे व्याकरण के अमुक सूत्र से सिद्ध होता है इससे हमने उसे यहां नहीं दिया । ये उल्लेख प्रायः उनकी प्राकृत व्याकरण के चौथे पाद के ही हैं जिस पाद में ही उन्होंने अपभ्रंश भाषा का निरूपण

किया है। ऊपर उद्धृत टीका में जो वज्जर-पज्जर आदि सूत्र का उल्लेख है वह भी चौथे पाद का दूसरा सूत्र है। यह सूत्र सभी प्राकृतों को लागू है।

इस कोश की उक्त विशेषताओं पर से यह प्रमाणित होता है कि हेमचन्द्र ने उसे अपने प्राकृत व्याकरण का सहकारी ग्रंथ बनाया है। जो संज्ञायें या अन्य शब्द उनके व्याकरण के नियमों द्वारा सिद्ध होते हैं उन्हे वे प्राकृत कहते हैं और उनके कारक व क्रिया के रूपों की विशेषतानुसार वे उन्हे, शौरसेनी, महाराष्ट्री व अपभ्रंश आदि नाम देते हैं; तथा जो संज्ञायें उक्त भाषाओं में प्रचलित हैं किन्तु उनके व्याकरण से सिद्ध नहीं होतीं उन्हे वे 'देशी' कहते हैं और उनके अर्थ उक्त कोश में दिये गये हैं। इस तरह उन्होंने 'अपभ्रंश' का प्रायः उसी अर्थ में उपयोग किया है जिस अर्थ में कि पातञ्जलि ने किया है। वे संस्कृत से विकृत रूपों की दृष्टि से एक भाषा को 'अपभ्रंश' कहते हैं और उसी भाषा को उसमें प्रचलित संस्कृत से अव्युत्पन्न शब्दों, भरतमुनि के अनुसार 'म्लेच्छ शब्दों, की दृष्टि से 'देशी' कहते हैं।

अब हमें यह भी देख लेना चाहिये कि जो ग्रंथ हमें मिले हैं, और जिन्हे हमने अपभ्रंश भाषा में रचित मान लिया है, उनके कर्ताओं ने स्वयं उन्हे किस भाषा का कहा है। यद्यपि इस सम्बन्ध के उल्लेख कम मिलते हैं तथापि जो कुछ दो चार मिल सकते हैं उनसे हमें ग्रंथकर्ताओं का अभिप्राय ज्ञात हो जावेगा

हमें जो इस भाषा का साहित्य अबतक मिला है उसमें स्वयंभू कवि के पउमचरिउ और हरिवंशपुराण सबसे प्राचीन सिद्ध होते हैं। पउमचरिउ के प्रारम्भ में कवि ने राम की कथा के सम्बन्ध में कहा है—

> वद्धमाण-मुह-कुहर-विणिग्गय
> रामकहा-णइ एह कमागय।
> दीह-समास-पवाहालंकिय
> सक्कय-पायय-पुलिणालंकिय।
> **देसीभासा**—उभयतडुज्जल
> कविदुक्कर घणसद्दसिलायल।
> अत्थबहल कल्लोलणिट्ठिय
> आसामय-समऊह-परिट्ठिय।
> एह रामकह-सरि सोहंती
> गणहरदेवहं दिट्ठ वहंती॥

यद्यपि यहां स्पष्ट यह नहीं कहा गया कि प्रस्तुत ग्रंथ को कवि ने कौन सी भाषा में रचा है किन्तु मेरे मत से 'देशी भाषा' से कवि का अपने ग्रंथ की भाषा से अभिप्राय है। रविषेणकृत संस्कृत 'पद्मचरित' और विमलसूरिकृत प्राकृत 'पउमचरिउ' कवि से पूर्व बन चुके थे, इसलिये उन्हें कवि ने रामकथा रूपी नदी के बीच दृश्यमान पुलिन कहा है। स्वयंभू से पूर्व 'देसी भासा' में बने हुए किसी रामकथा सम्बन्धी ग्रंथ का, विशेषत जैनसाहित्य

में, हमें अबतक पता नहीं है । इसलिये मेरा अनुमान है कि कवि अपने काव्य को ही देसी भासा में रचित निर्दिष्ट करते हैं । यह ग्रंथ प्रारम्भ ही हुआ है, अन्त में नहीं पहुंचा, इसी से कदाचित् उसे रामकथासरित् का तट ही कहा है ।

पद्मदेवकृत 'पासणाहचरिउ' दशवीं शताब्दि का बना हुआ है । उसके आदि में कवि कहते हैं—

> वायरणु देसिसद्दत्थगाढ
> छंदालंकारविसाल पोढ ।
> ससमय-परसमय-वियारसहिय
> अवसद्दवाय दूरेण रहिय ॥
> जइ एवमाइ-बहुलक्खणेहिं
> इह विरइय कव्व वियक्खणेहिं ।
> ता इयरकईयणसंकिएहिं
> पयडिव्वउ किं अप्पउ ण तेहिं ॥

यह उल्लेख एक दृष्टि से कुछ स्पष्ट है । कवि कहते हैं कि यद्यपि व्याकरण और देशीशब्द व अर्थ से गाढ, आदि लक्षणों युक्त काव्य दूसरे कवियों ने बनाये हैं, तो क्या उनकी शंका से दूसरे कोई अपने भाव प्रगट न करें ! कवि का तात्पर्य है कि देशी शब्दों में अनेक काव्य उच्चकोटि के बन चुके हैं तथापि मैं भी देशी शब्दों में एक काव्य बनाने का साहस करता हूं । इस प्रकार पद्मदेव भी अपने काव्य के भाषा को देशी कहते हैं

उक्त ग्रंथों से कुछ पीछे के एक ग्रंथ 'लखमएव (लक्ष्मण देव) कृत 'णेमिणाह चरिउ' की पूर्व पीठिका में इस प्रकार कहा गया है—

ण समाणमि छंदु न बंधभेउ
णउ हीणाहिउ मत्तासमेउ।
णउ सक्कउ पायउ देस-भास
णउ सद्दु वण्णु जाणमि समास। इत्यादि

यहां भी हमारा मत है कि कवि का देसभाषा से अपने ग्रंथ की भाषा से ही तात्पर्य है।

इस सम्बन्ध में सबसे स्पष्ट उल्लेख पादलिप्त कृत तरङ्गवती कथा में पाया जाता है+। यथा—

पालित्तएण रइया वित्थरओ तह य देसिवयणेहिं
नामेण तरंगवई कहा विचित्ता य विउला य॥

यहां स्पष्ट कहा गया है कि पादलिप्त ने तरङ्गवती कथा की रचना देसीवचनों में की।

पूर्वोक्त अवतरण इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि व्याकरणाचार्य जिस भाषा को अपभ्रंश कहते हैं उसी भाषा को उसमें रचना करने वाले कवि देशी भाषा कहते थे। वह भाषा हेमचन्द्र द्वारा स्वीकृत देशी भाषा के लक्षणों से युक्त भी है,

+ डा जैकोबा, सनत्कुमार चरित, भूमिका, पृ १८

अर्थात् वह अनादिकालागत प्राकृत का एक रूप है, तथा उसमें व्याकरण के नियमों से अव्युत्पन्न भी शब्द पाये जाते हैं।

यह बात विचारणीय है कि इस भाषा में रचना करने वाले कवियों ने अपनी भाषा को अपभ्रंश का नाम कहीं नही दिया। अपभ्रंश शब्द का, भाषा के सम्बन्ध में, एक भी उल्लेख इस भाषा के काव्यों में अभीतक मेरे देखने में नही आया। ऊपर दिये हुए अवतरणों के अतिरिक्त और अनेक उल्लेख मेरे पास संकलित हैं जिनमें कवियों ने कहीं अपने काव्य को 'पद्धडिया बंध' कहा है और कहीं 'प्राकृत रचना'। मेरा मत है कि भाषा के सम्बंध में इस अपभ्रंश शब्द से उक्त भाषा के लेखकों को अरुचि थी। उस शब्द में भाषा की हीनता और बुराई का भाव अंकित है और इसलिये उस भाषा के प्रेमियों को उससे असहयोग करना स्वाभाविक था। यथार्थतः यह शब्द पातञ्जलि आदि संस्कृत व्याकरण के महारथियों ने घृणा कि दृष्टि से ही दिया था, क्योंकि वे उसे संस्कृत का विकाश नही विकार समझते थे। प्राकृत वैयाकरणों ने उस शब्द को यों स्वीकार कर लिया कि उन्हे वह उस भाषा का लक्षण-घोतक जंचा, और संस्कृत से विकार रूप में उस भाषा का स्वरूप समझाने में उन्हे सुविधा होगई। मेरा मत है कि इसी सुविधा के विचार से हेमचन्द्र जैसे वैयाकरण ने भी प्राकृत की 'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्' ऐसी अयुक्तिसंगत व्युत्पत्ति दे डाली है।

पाहुड-दोहा

गुरु दिणयरु[1] गुरु हिमकरणु गुरु दीवउ गुरु देउ ।
अप्पापरहं[2] परंपरहं जो दरिसावइ भेउ ॥ १ ॥

अप्पायत्तउ जं जि सुहु तेण जि करि संतोसु ।
परसुहु वढ चिंततहं हियइ ण फिट्टइ सोसु ॥ २ ॥

जं सुहु विसयपरंमुहउ णिय अप्पा झायंतु ।
तं सुहु इंदु वि णउं लहइ देविहिं कोडि रमंतु ॥ ३ ॥

आभुंजंता विसयसुहं जे ण वि हियइ धरंति ।
ते सासयसुहु लहु लहहिं जिणवरं एम भणंति ॥ ४ ॥

ण वि भुंजंता विसय सुह हियडइ भाउ धरंति ।
सालिसित्थु जिम वप्पुडउ णर णरयहं णिवडंति ॥ ५ ॥

---

१ क. दिणियरु. २ क. अप्पहं परहं. ३ द. सुह. ४ द. ण वि ५ क °सुहु ६ क. द जिणवरु ७ क वापुडो

हिन्दी अनुवाद

१ जो आत्म और पर की परम्परा का भेद दर्शाता है वह दिनकर (सूर्य) गुरु है, हिमकिरण (चन्द्र) गुरु है, दीप गुरु है और देव भी गुरु है ।

२ जो सुख अपने अधीन हो उसी से सन्तोष कर। दूसरों के सुख की चिन्ता (अभिलाषा) करने वालों के हृदय का सोच, हे मूर्ख, कभी नही मिटता ।

३ जो सुख विषयों से पराङ्मुख होकर अपनी आत्मा के ध्यान में मिलता है वह सुख करोड़ों देवियों के साथ (या देवियों की कोटि में) रमण करने वाला इन्द्र भी नही पाता ।

४ विषयसुखों का पूरा उपभोग करते हुए भी जो हृदय में उनकी धारणा नही करते वे शीघ्र शाश्वत सुख का लाभ उठाते हैं, ऐसा जिनवरों ने कहा है ।

५ विषयसुखों का उपभोग न करते हुए भी जो हृदय में उनका भाव रखते हैं वे नर बेचारे शालिसिक्थ के समान नरकों में पड़ते हैं। (शालिसिक्थ की कथा के लिये देखो टिप्पणी

ओयइं अडवड वडवडइ पर रंजिज्जइ लोउ ।
मणसुद्धइं णिच्चलठियइं पाविज्जइ परलोउ ॥ ६ ॥

धंधइं पडियउ सयलु जगु कम्मइं करइ अयाणु ।
मोक्खहं कारणु एक्कु खणु ण वि चिंतइ अप्पाणु ॥

जोणिहिं लक्खहिं परिभमइ अप्पा दुक्खु सहंतु ।
पुत्तकलत्तइं मोहियउ जाम ण बोहि लहंतु ॥ ८ ॥

अण्णु म जाणहि अप्पणउ घरु परियणु तणु इट्ठु ।
कम्मायत्तउ कारिमउ आगमि जोइहिं सिट्ठु ॥ ९ ॥

जं दुक्खु वि तं सुक्खु किउ जं सुहु तं पि य दुक्खु
पइं जिय मोहहिं वसि गयइं तेण ण पायउ मुक्खु ।

मोक्खु ण पावहि जीव तुहुं धणु परियणु चिंततु ।
तो इ विचिंतहि तउ जि[10] तउ पावहि सुक्खु[11] महंतु

घरवासउ मा जाणि जिय दुक्कियवासउ एहु ।
पासु कयंते मंडियउ अविचलु ण वि संदेहु ॥ १२ ।

---

१ क. में दोहा ६ और ७ का क्रम इससे वि
२ द. °ठियहं. ३. क. कारणि. ४ क. °कलत्तहं. ५
६ क. जो. ७ क. सिट्ठ. ८ द. गयउ. ९. क. पावइ. १०
११ क सोक्खु

६ आपत्ति में अटपट बड़बड़ाता है पर इससे लोक का मनोरंजन (विनोद) मात्र होता है। मन के शुद्ध और निश्चल होने पर परलोक प्राप्त होता है।

७ धंधे में पड़ा हुआ सकल जग, अज्ञानवश, कर्म करता है किन्तु मोक्ष के कारण अपनी आत्मा का एक क्षण भी चिन्तन नही करता।

८ यह आत्मा जब तक बोध नही पाता तब तक पुत्रकलत्र में मोहित होकर, दुःख सहता हुआ, लाखों योनियों में भ्रमण करता है।

९ घर, परिजन, तन व इष्ट सब अन्य हैं, इन्हे अपने मत जान। यह कर्म के अधीन कर्मजाल है, ऐसा योगियों ने आगम में बताया है।

१० हे जीव! मोह के वश में पड़कर तूने जो दुख है उसे सुख कर के माना है, और जो सुख है उसे दुख। इस से तूने मोक्ष नही पाया।

११ धन और परिजन का चिन्तन करने से, हे जीव! तूं मोक्ष नही पा सकता। तो भी तूं उसी उसी के चिन्तन करने में सुख मानता है।

१२ हे जीव ! इसे गृह-वास मत समझ यह

मूढा सयलु वि कारिमउ मं फुडु तुहुं तुसं कंडि ।
सिवपइं णिम्मलि करहि रइ घरु परियणु लहु छंडि ।

मोहु विलिज्जइ मणु मरइ तुट्टइ सासु णिसासु ।
केवलणाणु वि परिणवइ अंबरि जाह णिवासु ॥ १४

सप्पिं मुक्की कंचुलिय जं विसु तं ण मुएइ ।
भोयहं भाउ ण परिहरइ लिंगग्गहणु करेइ ॥ १५ ॥

जो मुणि छंडिवि विसयसुह पुणु अहिलासु करेइ ।
लुंचणु सोसणु सो सहइ पुणु संसारु भमेइ ॥ १६ ॥

विसयँसुहा दुइ दिवहडा पुणु दुक्खहं परिवाडि ।
भुल्लउ जीव म वाहि तुहुं अप्पाखंधि कुहाडि ॥ १७

उव्वालि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सुमिट्ठाहार ।
सयल वि देह णिरत्थ गय जिहँ दुज्जणउवयार ॥ १८

अथिरेण थिरा मइलेण णिम्मला णिग्गुणेण गुणसार
काएण जा विढप्पइ सा किरिया किण्ण कायव्वा ॥

---

१ क. तुसखंडि. २ क. °पहि. ३ द. मुवेइ. ४ क. ५ क. लिंगाग्गहणु. ६ द. धरेइ. ७ क. विसइ सुहइं. ८ क. ९ द देह १० क जह

हे मूढ ! यह समस्त कर्म जाल है तूँ प्रकट भुस को मत कूट । घर, परिजन को शीघ्र छोड़कर निर्मल शिव-पद में प्रीति कर ।

जिनका वस्त्र अम्बर है (अर्थात् जो दिगम्बर हैं, या जिनका निवास आकाश में है, अर्थात् जो मुक्त हैं) उनका मोह विलीन हो जाता है, मन मर जाता है, श्वास निश्वास छूट जाता है और केवलज्ञान प्रकट हो जाता है।

सर्प कांचुली तो छोड़ देता है किन्तु जो विष है उसे नहीं छोड़ता। (इसी प्रकार द्रव्यलिङ्गी मुनि) वेष धारण कर लेता है परंतु भोगों के भाव का परिहार नहीं करता।

जो मुनि विषयसुखों को छोड़कर पुनः उनकी अभिलाषा करता है वह (केश-) लौंच और (शरीर-) शोषण का क्लेश सह कर फिर भी संसार में भ्रमण करता है।

विषय-सुख दो दिन के हैं, फिर वही दुखों की परिपाटी है। भूलकर, हे जीव, तूं अपने कंधे पर कुल्हाड़ी मत मार।

उपटन और तैलमर्दन की चेष्टा कर और सुमिष्ट आहार दे, तो भी दुर्जन के प्रति किये हुए उपकारों के समान समस्त देह निरर्थ जानेवाली है।

अस्थिर, मैले और निर्गुण काय से जो स्थिर, निर्मल और गुणसार क्रिया बढ सकती है वह क्रिया क्यों न की जाय ? (अर्थात् इस विनाशी, मलिन और निर्गुण शरीर को स्थिर, निर्मल और गुणयुक्त आत्मा के ध्यान में लगाना चाहिये)।

वरु विसु विसहरु वरु जलणु वरु सेविउ वणवासु ।
णउ जिणधम्मपरम्मुहउ मित्थतिय सहु वासु ॥ २० ॥

उम्मूलिवि ते मूलगुण उत्तरगुणहिं विलग्ग ।
वण्णर जेम पलंबचुय बहुय पडेविणु भग्ग ॥ २१ ॥

अप्पा बुज्झिउ णिच्चु जइ केवलणाणसहाउ ।
ता पर किज्जइ कांइं वढ तणु उप्परि अणुराउ ॥ २२ ॥

सो णत्थि इह पएसो चउरासीलक्खजोणिमज्झमि ।
जिणवयणं अलहंतो जत्थ ण डुरुडुल्लिओ जीवो ॥ २३

जसु मणि णाणु ण विप्फुरइ कम्महं हेउ करंतु ।
सो मुणि पावइ सुक्खु ण वि सयलइं सत्थ मुणंतु ॥ २

बोहिविवज्जिउ जीव तुहुं विवरिउ तच्चु मुणेहि ।
कम्मविणिम्मिय भावडा ते अप्पाणं भणेहि ॥ २५ ॥

हउं गोरउ हउं सामलउ हउं मि विभिण्णउ वण्णि ।
हउं तणुअंगउ थूलु हउं एहउ जीव म मण्णि ॥ २६ ॥

---

१ क. में दोहा २० और २१ का क्रम इससे विपरी
२ क. जालजलणु. ३ क. में दोहा २२ और २३ का क्रम विपरीत है। ४ क. बुज्झहि. ५ द. पत्थु. ६ द. में इससे 'गाथा' है. ७ क. डुरु°. ८ क. अप्पणा. ९ क. सावंलउ. जि ११ क चिभिन्नइ १२ द °ण्णु

विष व विषधर (सर्प) बहतर हैं, अग्नि बहतर है, वनवास का सेवन बहतर है; किन्तु जिनधर्म से पराङ्-मुख मिथ्यातियों के साथ निवास अच्छा नहीं ।

जो मूल गुणों को उन्मूल कर उत्तर गुणों में संलग्न होते हैं वे डाल के चूके वानरों के समान बहुत नीचे गिरकर भग्न होते हैं ।

यदि आत्मा को नित्य और केवलज्ञान–स्वभाव जान लिया, तो फिर, हे मूर्ख ! इस शरीर के ऊपर क्यों अनुराग करता है ?

यहां चौरासी लाख योनियों के मध्य ऐसा कोई प्रदेश नहीं, जहां, जिनवचन को न पाकर, यह जीव भ्रमण न कर चुका हो ।

जिसके मन में ज्ञान विस्फुरित नहीं हुआ वह मुनि सकल शास्त्रों को जानते हुए भी, कर्मों के हेतु को करता हुआ, सुख नहीं पाता ।

बोध से विवर्जित, हे जीव ! तू तत्व को विपरीत मानता है । जो भाव कर्मों द्वारा निर्माण हुए हैं उन्हे आत्मा के भाव कहता है । (अर्थात् यह अज्ञान का ही कारण है कि जीव पर को आत्म समझता है) ।

मैं गोरा हू मैं सॉवला हू, मैं विभिन्न वर्ण का हू, मैं

ण वि तुहुं पंडिउ मुक्खु ण वि ण वि ईसरु ण वि णीसु ।
ण वि गुरु कोइ वि सीसु ण वि सव्वइं कम्मविसेसु ॥ २७ ॥

ण वि तुहुं कारणु कज्जु ण वि ण वि सामिउ ण वि भिच्चु ।
सूरउ कायरु जीव ण वि ण वि उत्तमु ण वि णिच्चु ॥ २८॥

पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्मु अहम्मु ण काउ ।
एक्कु वि जीव ण होहि तुहुं मिल्लिवि[3] चेयणभाउ ॥ २९ ॥

ण वि गोरउ ण वि सामलउ ण वि तुहुं एक्कु वि वण्णु ।
ण वि तणुअंगउ थूलु ण वि एहउ जाणि सवण्णु ॥ ३० ॥

हउं वरु बंभणु ण वि वइसु णउ खत्तिउ णं वि सेसु ।
पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि एहउ जाणि विसेसु ॥ ३१ ॥

तरुणउ बूढउ बालु हउं सूरउ पंडिउ दिव्वु ।
खवणउ वंदउ सेवडउ एहउ चिंति म सव्वु ॥ ३२ ॥

देहहो पिक्खिवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि ।
जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाणं मुणेहि ॥ ३३ ॥

---

१ क. सव्वु इ. २ क. नहि. ३ क. मिल्लिअ. ४ क. सावलउ ५ क णउ ६ क सेउडउ ७ द. बंभपरु. ८ क यप्पणा

न तो तूँ पंडित है न मूर्ख, न ईश्वर है न अनीश, न गुरु है और न कोई शिष्य। सब में कर्म की विशेषता है। (अर्थात् आत्मा सब जीवों का एक रूप है, केवल अपने अपने कर्मानुसार सब जीव भिन्न भिन्न परिस्थिति में दिखाई देते हैं)।

न तो तूँ कारण है न कार्य, न स्वामी है न भृत्य, न सूर है न कायर। हे जीव! न तूँ उत्तम है न नीच।

न पुण्य, न पाप, न काल, न नभ, न धर्म, न अधर्म और न काय। हे जीव तूँ, चेतन भाव को छोड़कर, इनमें से कोई एक भी नहीं है। (अर्थात् आत्मा चैतन्य स्वभाव वाला है। पुण्य पाप इत्यादि जो जड भाव हैं उन से वह सर्वथा भिन्न है)।

न तूँ गोरा है न साँवला, न एक भी वर्ण का है। न तूँ दुर्बलाङ्ग है, न स्थूल। अपने स्वरूप को ऐसा जान। (अर्थात् वर्ण और दुर्बलता व मोटापन आदि गुण जड शरीर के हैं, चिदानन्द आत्मा के नहीं)।

न मैं श्रेष्ठ ब्राह्मण हूं, न वैश्य हूं, न क्षत्रिय हूं, न शेष (शूद्र) हूं, और न पुरुष, नपुंसक या स्त्री हूं। ऐसा विशेष जान। (अर्थात् शुद्ध आत्मा में वर्णभेद और लिङ्गभेद नहीं हैं)।

मैं तरुण हूं, बूढा हूं, बाल हूं, सूर हूं, दिव्य पंडित हूं या क्षपणक (दिगम्बर), वंदक (मंदिरमार्गी?) या श्वेताम्बर हूं। इस सब की चिंता मत कर।

हे जीव! देह का जरा-मरण देखकर भय मत खा। जो अजरामर, परम ब्रह्म है उसे ही अपना मान।

देहहि उब्भउ जरमरणु देहहि वण्ण विचित्त ।
देहहो रोया जाणि तुहुं देहहि लिंगइं मित्त ॥ ३४ ॥

अत्थि ण उब्भउ जरमरणु रोय वि लिंगइं वण्ण ।
णिच्छइ अप्पा जाणि तुहुं जीवहो णेक्क वि सण्ण ॥ :

कम्महं केरउ भावडउ जइ अप्पाणं भणेहि ।
तो वि ण पावहि परमपउ पुणु संसारु भमेहि ॥ ३६

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ अवरु परायउ भाउ ।
सो छंडेविणु जीव तुहुं झांवहि सुद्धसहाउ ॥ ३७ ॥

वण्णविहूणउ णाणमउ जो भावइ सब्भाउ ।
संतु णिरंजणु सो जि सिउ तहिं किज्जइ अणुराउ ॥

तिहुयणि दीसइ देउ जिणु जिणवरि तिहुवणु एउ ।
जिणवरि दीसइ सयलु जगु को वि ण किज्जइ भेउ ।

बुज्झहु बुज्झहु जिणु भणइ को बुज्झउं हलि अण्णु ।
अप्पा देहहं णाणमउ छुडु बुज्झियउ विभिण्णु ॥ ४०

१ क. निच्छवि अप्पु वियाणि तुहुं. २ क. निक्क अप्पणा ३ क झायहि ५ क निहुयणु ६ प ग अइ ८

३४ जरा और मरण दोनों देह के हैं, और देह ही के विचित्र वर्ण हैं। हे मित्र! देह ही के रोग और देह ही के लिंग जानो।

३५ न तो दोनों जरा मरण हैं, न रोग, लिंग व वर्ण हैं। हे आत्मन्! यह तूँ निश्चय से जान कि जीव के इन में से एक भी नही है।

३६ कर्मों के भाव को ही यदि तूँ आत्मा कहता है तो फिर तूँ परम पद को नही पा सकता, अभी और भी संसार का भ्रमण करेगा।

३७ ज्ञानमय आत्मा के अतिरिक्त और भाव पराया है। उसे छोड़कर, हे जीव! तूँ शुद्ध स्वभाव का ध्यान कर।

३८ जो वर्णविहीन है, ज्ञानमय है, सद्भाव को भाता है, जो संत और निरंजन है, वही शिव है। उसी में अनुराग करना चाहिये।

३९ त्रिभुवन में जिन देव दिखता है और जिनवर में यह त्रिभुवन। जिनवर में सकल जगत् दृष्टिगोचर होता है। इनमें कोई भेद न करना चाहिये।

४० जिन कहते हैं जानो! जानो! किन्तु यदि ज्ञानमय आत्मा को देह से विभिन्न जान लिया तो, भला, और अन्य क्या जानने को रहा?

वंदहु वंदहु जिणु भणइ को वंदउ हलि इत्थु ।
णियदेहाहं वसंतयहं जइ जाणिउ परमत्थु ॥ ४१ ॥

उपलाणहिं जोइय करहुलउ दावेणु छोडहि जिम चरइ ।
जसु अखइ णिरामइं गयउ मणु सो किम बुहु जगि रइ करइ ॥

ढिल्लउ होहि म इंदियहं पंचहं विण्णि णिवारि ।
एक्क णिवारहि जीहडिय अण्ण पराइय णारि ॥ ४३ ॥

पंच बलद्द ण रक्खियइं णंदणवणु ण गओ सि ।
अप्पु ण जाणिउ णॅ वि परु वि एमइं पव्वइओ सि ॥ ४

पंचहिं बाहिरु णेहडउ हलि सहि लग्गु पियस्स ।
तासु ण दीसइ आगमणु जो खलु मिलिउ परस्स ॥ ४

मणु जाणइ उवएसडउ जहिं सोवेइ अचिंतु ।
अचित्तहो चित्तु जो मेलवइ सो पुणु होइ णिचिंतु ॥ ४

वट्टडिया अणुलग्गयहं अग्गउ जोयंताहं ।
कंटउ भग्गइ पाउ जइ भज्जउ दोसु ण ताहं ॥ ४७ ॥

---

१ क. दाम्वणु. २ क. पंचइं बंधि णिसारि. ३ क.
४ क. न वि वि परु. ५ क. पव्वइ. ६ क. पंचहे. ७ द. मेह
८ द. पयस्स ९ द. जासु. १० क. जहिं सोवइ अच्चितु. १
जि १२ द भज्जउ पाइ १३ द कु

जिन कहते हैं वन्दना करो! वन्दना करो! किन्तु यदि अपने देह में बसने वाले का परमार्थ जान लिया तो, भला, यहां किस की वन्दना करना शेष रहा?

जिस प्रकार कमलों को देखकर गजकुमार अपने बन्धन को छुड़ाकर विचरण करने लगते हैं, तैसे ही जिसका मन अक्षयिनी रामा (मुक्ति-स्त्री) पर गया वह विद्वान् जगत् में कैसे रति कर सकता है?

इन्द्रियों के सम्बन्ध में ढीला मत हो। पांच में से दो का निवारण कर। एक जीभ को रोक और दूसरी पराई नार।

तूने न तो पांच बैलों को रखाया और न नन्दन वन में प्रवेश किया। न अपने को जाना और न पर को। यों ही परिव्राजक बन गया है। (यहां पांच बैलों से पांच इंन्द्रियों तथा नन्दन वन से आत्मा का तात्पर्य है।)

हे सखि! प्रियतम को बाहिर पांच का नेह लगा हुआ है। जो खल दूसरे से मिला हुआ है उसका आगमन भी नहीं दिखता। (अर्थात् जब तक इन्द्रियों में मोह फंसा हुआ है तब तक आत्मानन्द का अनुभव नहीं हो सकता।)

जब मन निश्चिन्त सो जाता है तभी वह उपदेश को समझता है। और निश्चिन्त वही होता है जो अचित् से चित्त को अलग कर लेता है।

जो मार्ग पर लगे हुए हैं, और आगे देख कर चलते हैं, उनके पैर में यदि कांटा लग जाय तो लग जावे। इसमें उनका दोष नहीं

मिल्लहु मिल्लहु मोकलउ जहिं भावइ तहिं जाउ ।
सिद्धिमहापुरि पइसरउ मा करि हरिसु विसाउ ॥ ४९

मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरु जि मणस्स ।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चडावउं कस्स ॥

आराहिज्जइ देउ परमेसरु कहिं गयउ ।
वीसारिज्जइ काइं तासु जो सिउ सव्वंगउ ॥ ५० ॥

अम्मिए जो परु सो जि परु परु अप्पाणं ण होइ ।
हउं डज्झउ सो उव्वरइ वलिवि ण जोवइ तो इं ॥ ५

मूढा सयलु वि कारिमउ णिक्कारिमउ ण कोइ ।
जीवहु जंतं ण कुडि गइय इउँ पडिछंदा जोइ ॥ ५२

देहादेवलि जो वसइ सत्तिहिं सहियउ देउ ।
को तहिं जोइय सत्तिसिउ सिग्घु गवेसहि भेउ ॥ ५३

जरइ ण मरइ ण संभवइ जो परि को वि अणंतु ।
तिहुवणसामिउ णाणमउ सो सिवदेउ णिभंतु ॥ ५४

---

१ क. परमेसरहं. २ द. काइं दिउ. ३ क. जि अप्पणा. ५ क. तो वि. ६ द. जंतु. ७ क. इहु. ८ क. ९ क. में यह पंक्ति स्याही उड़ जाने के कारण पढ़ी नहीं १० द परु ११ क सिउ

छोड़ दो! स्वतन्त्र छोड़ दो! जहां भावे तहां जाने दो। उसे सिद्धि-महापुरी की ओर बढने दो। कुछ हर्ष विषाद मत करो। (अर्थात् मन जब इन्द्रिय-विषयों से मुक्त हो जाता है तो वह मुक्ति की ओर अग्रसर होता है।)

मन परमेश्वर से मिल गया और परमेश्वर मन से। दोनों समरस हो रहे, पूजा किसे चढाऊं?

देव की आराधना करता है, परमेश्वर कहां चला गया? जो शिव सर्वाङ्ग में व्याप्त है उसका विस्मरण कैसे हो गया?

अहो! जो पर है वह पर ही है, पर आत्मा नहीं है। मैं दग्ध हो जाता हूं, वह बच जाता है और फिर लौट कर भी नहीं देखता। (अर्थात् जड़ शरीर पर है। इसके दग्ध हो जाने पर आत्मा इससे सर्वथा पृथक् हो जाता है।)

हे मूढ! यह सब कर्मजंजाल है। निष्कर्म कोई नहीं है। जीव गया पर उसके साथ कुटी (देह) नहीं गई। इस दृष्टान्त को देख।

देहरूपी देवालय में जो शक्तियों सहित देव वास करता है, हे जोगी! वह शक्तिमान् शिव कौन है? इस भेद को शीघ्र ढूंढ।

जो न जीर्ण होता है, न मरता है और न उत्पन्न होता है, जो सब के परे कोई अनन्त, ज्ञानमय, त्रिभुवन का स्वामी है, वही निर्भ्रान्त शिव देव है

सिव विणु सत्ति ण वावरइ सिउ पुणु सत्तिविहीणु
दोहिं मि[1] जाणहिं सयलु जगु बुज्झइ मोहविलीणु

अण्णु तुहारउ णाणमउ लक्खिउ जाम ण भाउ।
संकप्पवियप्पिउ णाणमउ दड्ढउ चित्तु वराउ ॥५६॥

णिच्चु णिरामउ णाणमउ परमाणंदसहाउ।
अप्पा बुज्झिउ जेण परु तासु ण अण्णु हि भाउ।

अम्हहिं जाणिउ एक्कु जिणु जाणिउ देउ अणंतु।
णॅचरिसु मोहें मोहियउ अच्छइ दूरि भमंतु ॥ ५८

अप्पा केवलणाणमउ हियडइ णिवसइ जासु।
तिहुयणि अच्छइ मोक्कलउ पाउ ण लग्गइ तासु।

चिंतइ जंपइ कुणइ ण वि जो मुणि बंधणहेउ।
केवलणाणफुरंततणु सो परमप्पउ देउ ॥ ६० ॥

अब्भिंतरचित्ति वि मइलियइं बाहिरि काइं तवेण
चित्ति णिरंजणु को वि धरि मुच्चहि जेम मलेण।

---

१ द. वि. २ द. णाणमइ. ३ क. अप्पाहि. ४
५ द. णवरिसु (?) ६ क. भवंतु. ७ द. मोकलउ.
९ क बाहिर. १० क णिरजाणि.

शिव के विना शक्ति का व्यापार नहीं होता और शक्ति-विहीन शिव का। इन दोनों को जान लेने से सकल जगत् मोह में विलीन समझ में आने लगता है।

जबतक तुम्हारा वह अन्य, ज्ञानमय भाव नहीं लखा गया (तभी तक यह) संकल्प-विकल्परूपी अज्ञानमय, हतभाग्य, बेचारा चित्त है।

नित्य, निरामय, ज्ञानमय, परमानन्द-स्वभाव, पर आत्मा को जिसने जान लिया उसके कोई अन्य भाव नहीं रहता।

हमने एक जिन को जान लिया तो अनन्त देव को जान लिया। जो ऐसा आचरणशील नहीं है वह मोह से मोहित होकर दूर भ्रमण करता रहता है।

जिसके हृदय में केवलज्ञानमय आत्मा निवास करता है वह त्रिभुवन में स्वतंत्र रहता है। उसे कोई पाप नहीं लगता।

जो मुनि बंधन के हेतु को न सोचता है, न कहता है और न करता है वही केवलज्ञान से स्फुरायमान शरीरवाला, परमात्म, देव है।

जब भीतरी चित्त मैला है तब बाहिर तप करने से क्या? चित्त में उस विचित्र निरंजन को धारण कर जिससे मैल से छुटकारा हो

जेण णिरंजणि मणु[1] धरिउ विसयकसायहिं[2] जंतु ।
मोक्खह कारणु एत्तडउ[3] अवरइं तंतु ण मंतु ॥ ६२ ॥

खंतु पियंतु वि जीव जइ पावहि सासयमोक्खु ।
रिसहु भडारउ किं चवइ सयलु वि इंदियसोक्खु ॥[4]

देहमहेली[5] एह वढ तउ सत्तावइ ताम ।
चित्तु णिरंजणु परिण सिहुं समरसि होइ ण जाम ॥

जसु मणि णाणु ण विप्फुरइ सव्व वियप्प हणंतु ।
सो किम पावइ णिच्चसुहु सयलइं धम्म कहंतु ॥ ६५

जसु मणि णिवसइ परमपउ सयलइं चिंतं चवेवि ।
सो पर पावइ[6] परमगइ अट्ठइं कम्म हणेवि ॥ ६६ ॥

अप्पा मिल्लिवि[7] गुणणिलउ अण्णु जि झायहि झाणु
वढ अण्णाणविमीसियहं[8] कहं तहं केवलणाणु ॥ ६७

अप्पा दंसणु[9] केवलु[10] वि अण्णु सयलु[11] ववहारु ।
एक्कु सु जोइय झाइयइ जो[12] तइलोयहं सारु ॥ ६८

---

१ क. धरिउ मणु. २ क. कसायहं. ३ क. अउरइ. ४ क. मे यह दोहा नही है. ५ क. द. चित्त. ६ व
७ क. मेल्लिवि. ८ क. मिमीसियहं. ९ द. दंसण?. १० क.
११ द सव्वु १२ क जइ

विषय-कषायों में जाते हुए मन को जिसने निरंजन (आत्मा) में रोक लिया तो मोक्ष का कारण इतना ही है। और कोई तंत्र है न मंत्र।

हे जीव! यदि तूँ खाता पीता हुआ ही शाश्वत मोक्ष को पा जाय तो ऋषभ महाराज ने सकल इन्द्रिय-सुखों को क्यों त्यागा?

हे मूढ! यह देहरूपी महिला तुझे तभी तक सताती है जब तक निरंजन (निष्कलंक) मन पर (परमात्मा) के साथ समरस नही होता।

जिसके मन में सब विकल्पों का हनन करने वाला ज्ञान विस्फुरायमान नही हुआ वह, सभी कुछ को धर्म कहता हुआ, नित्य सुख कैसे पा सकता है?

सब चिन्ताओं को छोड़कर जिसके मन में परमात्मा का निवास हो गया वह फिर, आठ कर्मों का हनन करके, परमगति को पाता है।

गुणों के निलय आत्मा को छोड़ कर और ध्यान ध्याता है। हे मूर्ख! जो अज्ञान में मिश्रित (लिप्त) हैं उनके केवल ज्ञान कहां?

दर्शन और केवल ज्ञान) ही आत्मा है और सब

अप्पा दंसणणाणमउ सयलु वि अण्णु पयालु ।
इयँ जाणेविणु जोइयहुँ छंडहु मायाजालु ॥ ६९ ॥

अप्पा मिल्लिवि जगतिलउ जो परदव्वि रमंति ।
अण्णु कि मिच्छादिट्ठियहं मत्थइं सिंगइं होंति ॥ ७०

अप्पा मिल्लिवि जगतिलउ मूढ म झायहि अण्णु ।
जिं मरगउ परियाणियउ तँहु किं कच्चहु गण्णु ॥ ७१

सुहपरिणामहिं धम्मु वढ असुहइं होइ अहम्मु ।
दोहिं मि एहिं विवज्जियँउ पावइ जीउ ण जम्मु ॥ ७२

सइं मिलिया सइं विहडिया जोइय कम्म णिभंति ।
तरलसहावहिं पंथियहिं अण्णु कि गाम वसंति ॥ ७३

अण्णु जि जीउ म चिंति तुहुं जइ बीहउ दुक्खस्स ।
तिलतुसमित्तु वि सल्लडा वेयण करइ अवस्स ॥ ७४ ॥

अप्पाए वि विभावियइं णासइ पाउ खणेण ।
सूरु विणासइ तिमिरहरु एक्कल्लउ णिमिसेण ॥ ७५ ॥

---

१ क. द. दंसणु. २ द. इम. ३ क °हो. ४ क. जयति°. ५ क. परदव्व. ६ क. जं. ७ क. तहो. ८ क. ; ९ क. द. एहं. १० क. विवज्जियए. ११ क. तरलसहाव तरलि सहाव वि. १२ क. भीयउ. १३ क. में यहां से आगे ५ कथा बिल्कुल ही छूट गई है

आत्मा दर्शन और ज्ञानमय है, अन्य और सब प्रजाल है। ऐसा जानकर, हे योगियो! मायाजाल को छोड़ो।

जगतिलक आत्मा को छोड़कर जो परद्रव्य में रमण करते हैं, तो और क्या मिथ्या-दृष्टियों के माथे पर सींग होते हैं?

जगतिलक आत्मा को छोड़कर, हे मूढ! अन्य किसी का ध्यान मत कर। जिसने मरकत (मणि) को पहचान लिया वह क्या कांच को कुछ गिनता है?

हे मूर्ख! शुभ परिणामों से धर्म और अशुभ से अधर्म होता है। इन दोनों से विवर्जित होकर जीव पुनर्जन्म नहीं पाता।

हे जोगी! कर्म स्वयं मिलते और स्वयं बिछुड़ते हैं, इसमें भ्रान्ति नहीं। चञ्चल स्वभाव के पथिकों से और क्या गांव वसते हैं!

यदि तूँ दुख से भयभीत है तो अन्य को जीव मत मान। तिल व तुषमात्र शल्य (कांटा) भी अवश्य वेदना करता है।

आत्मा की भावना करने से पाप एक क्षण में नष्ट हो जाता है। अकेला सूर्य एक निमेष में अंधकार के समूह का विनाश कर देता है।

जोइय हियडइ जासु पर एक्कु जि णिवसइ देउ ।
जम्मणमरणविवज्जियउ तो पावइ परलोउ ॥ ७६ ॥

कम्मु पुराइंउ[1] जो खवइ अहिणव पेसु ण देइ ।
परमणिरंजणु जो णवइ सो परमप्पउ होइ ॥ ७७ ॥

पाउ वि अप्पहिं परिणवइ कम्मइं ताम करेइ ।
परमणिरंजणु जाम ण वि णिम्मलुं[2] होइ मुणेइ ॥ ७८

अंण्णु णिरंजणु देउ पर अप्पा दंसणणाणु ।
अप्पा सच्चउ मोक्खपहु एहउ मूढ वियाणु ॥ ७९[3]

ताम कुतित्थइं[4] परिभमइं धुत्तिम ताम करंति[5] ।
गुरुंहु[6] पसाएं जाम ण वि देहहं देउ मुणंति ॥ ८० ।

लोहिं मोहिउ ताम तुहुं विसयहं सुक्ख मुणेहि ।
गुरुहुं पासाएं[7] जाम ण वि अविचल बोहि[8] लहेहि ॥

उप्पज्जइ जेण विबोहु णं[9] वि बहिरप्पाउ तेण णाणेण
तइलोयपायडेण वि असुंदरो जत्थ परिणामो ॥ ८२

---

१ क. पुरायउ. २ क. णिम्मणु. ३ द. में यह दो
४ क. कुतित्थहं. ५ द. करेइ. ६ द. गुरहं, ७ द.
८ क. बोहु ९ क में ' ण वि ' नहीं है

हे जोगी! जिसके हृदय में जन्म-मरण से विवर्जित एक परम देव निवास करता है वह परलोक को प्राप्त करता है।

जो पुराने कर्म को खपाता है और नये का प्रवेश नहीं होने देता, तथा जो परम निरंजन (देव) को नमस्कार करता है वह परमात्मा हो जाता है।

पाप का आत्मा में तभी तक परिणाम होता है और तभी तक कर्म-बंध होता है, जब तक, निर्मल होकर, परम निरंजन को नहीं जान लेता।

दर्शन और ज्ञानमयी निरंजन देव परम आत्मा अन्य ही है। आत्मा ही सच्चा मोक्ष पथ है। हे मूढ! ऐसा जान।

(लोक) तभी तक कुतीर्थों का परिभ्रमण करते हैं और तभी तक धूर्तता भी करते हैं जब तक वे गुरु के प्रसाद से देह के देव को नहीं जान लेते।

तूँ तभी तक लोभ से मोहित हुआ विषयों में सुख मानता है, जब तक कि, गुरु के प्रसाद से, अविचल बोध नहीं पाया।

जिससे विशेष बोध (अर्थात् आत्मज्ञान) उत्पन्न न हो ऐसे त्रैलोक्य को प्रकट करने वाले ज्ञान से भी (जीव

तासु लीह दिढ दिज्जइ जिम पढियइ तिम किज्जइ ।
अह व ण गम्मागम्मइ तासु भजेसहिं अप्पुंणु कम्मइं

वक्खाणडा करंतु बुहु अप्पि ण दिण्णुं णु चित्तु ।
कणहिं जि रहिउँ पयालु जिम पर संगहिउ बहुत्तु ॥

पंडियपंडिय पंडिया कणु छंडिवि तुस कंडियाँ ।
अंत्थे गंथे तुंट्ठो सि परमत्थु ण जाणहि मूढो सि ॥

अक्खरडेहिं जि गव्विया कारणु ते णँ मुणंति ।
वंसविहत्था डोम जिम परहत्थडा धुणंति ॥ ८६ ॥

णाणतिडिक्की सिक्खि वढ किं पढियइं बहुएण ।
जा सुंधुकी णिड्डहइ पुण्णु वि पाउ खणेण ॥ ८७ ॥

सयलु वि को वि तडप्फडइ सिद्धत्तणहु तेंणेण ।
सिद्धत्तणु पैरि पावियइ चित्तहं णिम्मलएण ॥ ८८

केवलुँ मलपरिवज्जियउँ जँहिं सो ठाइ अणाइ ।
तस उरि सवु जगु संचरइ परइ ण कोइ वि जाइ ॥

---

१ द. अप्पु. २ क. दिण्णा चित्तु. ३ क.
४ क. खंडिया. ५ द. अत्थो. ६ क. तुट्टोसि. ७ क. [illegible]
८ क तिडक्की- द तिडिक्का ९ क सिंधुक्की १० द
११ क पर. १२ क सीलह कलपरि १३ द 'यह १४

अप्पा अप्पि परिट्ठियउ कहिं मि ण लग्गइ लेउ[1] ।
सव्वु जि[2] दोसु महंतु तसु[3] जं पुणु होइ अछेउ ॥ ९०

जोइय जोएं लइयँइण[4] जइ धंधइ ण पडीसि ।
देहकुँडिल्ली[5] परिखिवइ तुहुं तेमइ अच्छेसि ॥ ९१ ॥

अरि मणकरह म रइ करहि इंदियविसयसुहेण ।
सुक्खु[6] णिरंतरु जेहिं ण वि मुच्चहि ते वि खणेण ॥ '

तूसि म रूसि म कोहु करि कोहें णासइ धम्मु ।
धम्मि[7] णट्ठि णरयगइ अह गउ माणुसजम्मु ॥ ९३ ॥

हत्थ अहुट्ठहं[8] देवली वालहं[9] णा हि पवेसु ।
संतु[10] णिरंजणु तेहिं[11] वसइ णिम्मलु होइ गवेसु ॥ ९४

अप्पापरहं ण मेलयउ मणु मोडिवि[12] सहस त्ति ।
सो वढ जोइय किं करइ जासु ण एही[13] सत्ति ॥ ९५

सो जोयउ जो जोगवइ णिम्मलि[14] जोइय जोइ ।
जो पुणु इंदियवसि गयउ सो इह सावयलोइ[15] ॥ ९६

---

१ क लोउ. २ क. जु. ३ क. तहो. ४ क. लइ। कुडल्ली. ६ क. मुक्खु. ७ क. धम्मँ णट्ठें. ८ द. अहुट्ठ ए वालहि. १० द. सन्तु. ११ क. तह. १२ क. तोडिवि. एहा. १४ क. णिम्मणु भावइ जीउ- १५ क सावइ

जब आत्मा आत्मा में परिस्थित हो जाता है तब उसमें कहीं कोई लेप (मल) नहीं लगता और उसके जो सब महादोष होते हैं उनका पूर्णतः छेदन हो जाता है।

हे जोगी ! जोग लेकर यदि तूँ फिर धंधे में नहीं पड़ेगा तो इस देहरूपी कुटिया का क्षय हो जायगा और तूँ उसी प्रकार अक्षय हो जायगा ! (या, तूँ जिस कुटिया में रहता है उस देहरूपी कुटी का क्षय हो जायगा)।

रे मनरूपी करभ, इन्द्रियविषयों के सुख से रति मत कर। जिनसे निरन्तर सुख नहीं मिल सकता उन सब को क्षणमात्र में छोड़।

न तोष कर, न रोष कर, न क्रोध कर। क्रोध से धर्म का नाश होता है। धर्म नष्ट होने से नरकगति होती है। इस प्रकार मनुष्य-जन्म ही गया।

हाथ से अधिष्ठित (?) जो छोटासा देवालय है वहां बाल का भी प्रवेश नहीं हो सकता। संत निरंजन वहीं बसता है। निर्मल होकर ढूंढ।

मन को सहसा मोड़ लेने से आत्मा और पर का मेल नहीं हो सकता। किन्तु वह मूर्ख जोगिया क्या करे जिसकी इतनी शक्ति ही नहीं है ?

वही जोग है जो जोगी निर्मल ज्योति को जोड़ले

बहुयइं पढियइं मूढ पर तालू सुक्कइ जेण ।
एक्कु जि अक्खरु तं पढहु सिवपुरि गम्मइ जेण ॥ ९७

अन्तो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा ।
तं णवर सिक्खियव्वं जिं जरमरणक्खयं कुणहि ॥ ९८

णिल्लक्खणु इत्थीबाहिरउ अकुलीणउ महु मणि ठियउ
तसु कारणि आणी माहू जेण गवंगउ संठियउ ॥ ९९

हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसंगु ।
एकहिं अंगि वसंतयहं मिलिउ ण अंगहिं अंगु ॥ १००

सव्वहिं रायहिं छहरसहिं पंचहिं रूवेंहिं चित्तु ।
जासु णॅ रंजिउ भुवणयलि सो जोइय करि मित्तु ॥१०

तत्र तणुअं भि सरीरयहं संगु करि ढिउ जाहं ।
ताहं वि मरणदवॅक्कडिय दुसहा होइ णराहं ॥ १०२ ॥

देह गलंतहं सवु गलइ मइ सुइ धारण धेउ ।
तहिं तेहइं वढ अवसरहिं विरला सुमरहिं देउ ॥ १०३

---

१ क. °भरणं. २ द. थीमाइ (?). ३ क. सेण. रूयहिं. ५ द. णिरंजिउ. ६ क. भुयणयलु. ७ क. °द्दयक्कः ८ क. दुसही. ९ क. ह्लोदलइं-

बहुत पढा जिससे तालू सूख गया पर मूर्ख ही रहा। उस एक ही अक्षर को पढ जिससे शिवपुरी का गमन हो।

श्रुतियों का अन्त नही है, काल थोडा और हम दुर्बुद्धि हैं। इसलिये केवल वही सीखना चाहिये जिससे तूँ जरा-मरण का क्षय कर सके।

निर्लक्षण, स्त्री-बहिष्कृत और अकुलीन मेरे मन में बसा है। उसके कारण माहुर लाई गयी जिससे इन्द्रियाङ्ग को सुशोभित किया।

मैं सगुण हूं और प्रिय निर्गुण, निर्लक्षण और निःसंग है। एकही अंग रूपी अंक अर्थात् कोठे में बसने पर भी अंग से अंग नही मिल पाया।

जिसका चित्त सब रागों में, छह रसों में व पांच रूपों में भुवनतल में रक्त नही है, हे जोगी, उसे अपना मित्र बना।
जिनका तप थोडा भी शरीर का संग करके स्थित है (अर्थात् जो तपस्या करते हुए भी थोड़ा बहुत शरीर का मोह रखते है) उन नरों को भी मरण की छोटीसी आग दुस्सह होती है।

जिनकी देह गलती है उनकी मति, श्रुति, धारण, ध्येय सब गल जाता है। तब उस अवसर पर, हे मूर्ख! विरले ही देव का स्मरण करते हैं

उम्मणि थक्का जासु मणु भग्गा भूवहिं चारु ।
जिम भावइ तिम संचरउ ण वि भउ ण वि संसारु ॥१०४

जीव वहंति णरयगइं अभयपदाणें सग्गु ।
वे पह जव लौं दरिसियइं जहिं भावइ तहिं लग्गु ॥१०५॥

सुक्खअडा दुइ दिवहडइं पुणु दुक्खहं परिवाडि ।
हियडा हउं पइं सिक्खवमि चित्त करिज्जहि वाडि ॥१०६

मूढा देह म रज्जियइ देह ण अप्पा होइ ।
देहहं भिण्णउ णाणमउ सो तुहुं अप्पा जोइ ॥ १०७ ॥

जेहा पाणहं झुंपडा तेहा पुत्तिए काउ ।
तित्थु जि णिवसइ पाणिवइ तहिं करि जोइय भाउ ॥१०८

मूलु छंडि जो डाल चडि कहं तह जोयाभासि ।
चीरु ण वुणणहं जाइ वढ विणु उट्टियइं कपासि ॥१०९॥

सव्ववियप्पहं तुट्टहं चेयणभावगयाहं ।
कीलइ अप्पु परेण सिहु णिम्मलझाणठियाहं ॥११०॥

---

१ द. वाउ. २ क. °ले. ३ द. दरिसियउ. ४ क. सुक्खडा. ५ क. न. ६ द. रच्चियइ. ७ क. देहें. ८ क. ९ क. कालहं जोयाभासि. १० क. अड्डिया. ११ क. °तुट्टाहं १२ क माउ १३ क णिम्मलु

जिसका सुन्दर मन भौतिक पदार्थों से भागकर मन के परे (आत्मा में) स्थिर हो गया वह फिर जैसा भावे तैसा संचार कर सकता है। उसे फिर न भय है न संसार।

जीवों के वध से नरकगति होती है और अभयप्रदान से स्वर्ग। ये दो पथ जाने के लिये बतला दिये गये हैं। जहां भावे तहां लग जा।

सुख दो दिन के हैं, फिर दुःखों की परिपाटी। हे हृदय, मैं तुझे सिखाता हूं। वाट (सच्चे मार्ग) पर चित्त दे।

हे मूढ! देह में रंजायमान मत हो। देह आत्मा नहीं है; देह से भिन्न जो ज्ञानमय है उस आत्मा को तूँ देख।

जैसा प्राणों का झोंपड़ा तैसा, अहो, यह काय है। उसमें प्राणिपति निवास करता है। हे जोगी! उसी में भाव कर।

मूल को छोड़कर जो डाल पर चढता है उसको जोग अभ्यास कहां? हे मूर्ख! विना औंटे हुए कपास के चीर नहीं बुना जाता।

जिनके सब विकल्प छूट गये हैं, जो चेतन भाव में गये हैं, और निर्मल ध्यान में स्थित हैं उनका आत्मा पर के साथ खेलता है

अज्जु जिणिज्जइ करहुलउ लइ पइं देविणु लक्खु ।
जित्थु चडेविणु परममुणि सव्व गयागय मोक्खु ॥ ११

करहा चँरि जिणगुणथलिहिं तव विल्लडिय पगाम ।
विसमी भवसंसारगइ उल्लूरियहि ण जाम ॥ ११२ ॥

तव दावणु वय भियमडा समदम कियउ पलाणु ।
संजमघरहं उमाँहियउ गउ करहा णिव्वाणु ॥ ११३ ॥

एक्क ण जाणहि वट्टडिय अवरु ण पुच्छहि कोई ।
अद्दावियद्दहं डुंगरहं णर भंजंता जोइ ॥ ११४ ॥

वट्ट जु छोडिवि मउलियउ सो तरुवरु अकँयत्थु ।
रीणा पहिय ण वीसमिय फलेंहिं ण लायउ हत्थु ॥१

छहदंसणधंधइ पडिय मणहं ण फिट्टियँ भंति ।
एकु देउ छह भेउ किउ तेण ण मोक्खहं जंति ॥ ११

अप्पा मिल्लिवि एक्कु पर अण्णु ण वइरिउ कोइ ।
जेंणं विणिम्मिय कम्मडा जइ पर फेडइ सोइ ॥ ११८

१ क. जि णज्जइ. २ क. दिव्वउ. ३ क. मुक्खु. ...
चडि. ५ क. वय णिल्लडइ. ६ क. °घर. ७ द. उम्मा°. ८ ...
वि ९ क आकियत्थु १० क फलिहिं- ११ क. फिट्टय १...
°हो १३ द. जेण वि भज्जिय दुक्खडा

शीघ्र लक्ष्य देकर आज तुझे उस करभ को जीतना चाहिये जिसपर चढकर परम मुनि सब गमनागमन से मुक्त हो जाते हैं।

हे करभ! जब तक तूँ विषम भवसंसार की गति का उच्छेदन न कर डाले तब तक जिनगुण रूपी स्थली में चर। तेरा पैगाम छोड़ दिया है।

तप का दामन (बंधन), व्रत का...(?) तथा शम और दम का पल्याण बनाया। इस प्रकार संयमरूपी गृह से उन्माथी हुआ करहा (करभ) निर्वाण को गया।

एक तो तूँ स्वयं मार्ग नही जानता और दूसरे किसी से पूछता भी नही है। (इस प्रकार के) मनुष्यों को अटवी अटवी और पहाड़ों पर भटकते हुए देख!

जो पत्र छोड़कर मौरा है वह तरुवर अकृतार्थ है। थके हुए पथिकों को वहां विश्राम नही मिलता और फलों को भी कोई हाथ नही लगाता। (अर्थात् यदि धनी पुरुष में परोपकार बुद्धि न रही और उससे दुःखियों का उपकार न हुआ तो उस धन से क्या लाभ?)

षट्दर्शन के धंधे में पड़कर मन की भ्रान्ति न मिटी। एक देव के छह भेद किये इससे वे मोक्ष नहीं जाते। (अर्थात् षट्दर्शन का लक्ष्य एक ही है। उनमें जो विरोध मानता है वह भ्रान्ति में है, इससे उसका कल्याण नही हो सकता।)

हे आत्मन्! एक पर को छोड़कर अन्य कोई वैरी नही है। जिसने कर्मों का निर्माण किया है उस पर को जो मिटा दे वही यति है।

जइ वारउं तो तहिं जि पर अप्पहं मणु ण धरेइ
विसयहं कारणि जीवडउ णरयहं दुक्ख सहेइ ॥

जीव म जाणहि अप्पणा विसया होसहिं मज्झु
फल किं पाकहि जेम तिम दुक्ख करेसहिं तुज्झु

विसया सेवहि जीव तुहुं दुक्खहं साहिक एण ।
तेण णिरारिउ पज्जलइ हुववहु जेम घिएण ॥

असरीरहं संधाणु किउ सो धाणुक्कु णिरुत्तु ।
सिवतत्ति जिं संधियउ सो अच्छइ णिच्चिंतु ॥

हलि सहि काइं करइ सो दप्पणु ।
जहिं पडिबिंबु ण दीसइ अप्पणु ॥
धंधेंवालु मो जगु पडिहासइ ।
घरि अच्छंतु ण घरवइ दीसइ ॥ १२२ ॥

जसु जीवंतहं मणु मुवउ पंचेंदियहं समाणु ।
सो जाणिज्जइ मोकलउ लद्धउ पहु णिव्वाणु ॥

किं किज्जइ बहु अक्खरहं जे कालिं खउ जंति
जेम अणक्खरु संतु मुणि तव वढ मोक्खु कहंति

---

१ क. अक्खहि. २ क. साहिक. ३ द. अं. ४
५ द घघइवालु ६ क वर ७ क न नि ८ ०

यद्यपि मैं रोकता हूं तो भी वह पर ही पर जाता है, मन को आत्मा में धारण नहीं करता। विषयों के कारण जीव नरकों के दुख सहता है।

हे जीव ! अपने से ऐसा मत जान कि ये विषय मेरे होवेंगे। ऐसे फल क्यों पकाता है जिससे वे तुझे दुख पहुँचावें।

हे जीव ! तूँ विषयों का सेवन करता है किन्तु वे दुख के साधक हैं। इसीलिये तूँ बहुत जलता है, जैसे घृत से अग्नि प्रज्वलित होती है।

जिसने अशरीरी (सिद्धात्मा) का सन्धान किया वही सच्चा धनुर्धारी है। जो शिव की तत्परता में संलग्न है वह निश्चिन्त रहता है। (अर्थात् अपने आत्मा को लक्ष्य बनाकर उसी में तल्लीन रहना ही सच्चा कौशल है)।

हे सखी ! भला उस दर्पण का क्या करना जहां अपना प्रतिबिंब न दिखे ? मुझे यह जगत् लज्जावान् भासता है। घर में रहते हुए भी गृहपति का दर्शन नहीं होता।

जिसका जीते जी पंचेन्द्रियों सहित मन मर गया उस को मुक्त जानना चाहिये। उसने निर्वाण-पथ को पा लिया।

छहदंसणगंथिं बहुल अवरुप्परु गज्जंति ।
जं कारणु तं इक्कु पर विवेरा जाणंति ॥ १२५ ॥

सिद्धंतपुराणहिं वेय वढ बुज्झंतहं णउ भंति ।
आणंदेण वँ जाम गउ ता वढ सिद्धँ कहंति ॥ १२

सिवसत्तिहिं मेलावडा इहु पसुवाहमि होइ ।
भिण्णिय सत्ति सिवेण सिहुँ विरला बुज्झइ कोइ

भिण्णउ जेहिं ण जाणियउ णियदेहहं परमत्थु ।
सो अंधउ अवरहं अंधयहं किम दरिसावइ पंथु ॥

जोइय भिण्णउ झायँ तुहुं देहहं ते अप्पाणु ।
जइ देहु वि अप्पउ मुणहि ण वि पावहि णिव्वाणु

छत्तु वि पाइ सुगुरुवडा सयलकालसंतावि ।
णियदेहडइ वसंतयहं पाहण वाडि वहाइ ॥ १३०

मा मुट्ठा पसु गरुवडा सयल कालि झंखाइ ।
णियदेहहं मि वसंतयहं सुण्णा मढँ सेवाइ ॥ १३१

---

१ द. कारणि. २ क. °पुराणहं. ३ क. विजा
सिद्धि. ५ क. यहु. ६ क. सहु. ७ द. झाइ. ८ द. अ
द. कला १० क मढु

षट् दर्शन के ग्रंथ रूपी ग्रन्थि से वहुत से एक दूसरे पर गरजते हैं। जो कारण है वह एक पर ही है, किन्तु लोग विपरीत समझते हैं।

सिद्धान्त, पुराण और वेद जानने वालों के जब भ्रान्ति न रहे और जब उनका आनन्द से गमन हो जाय तब, हे मूर्ख! वे सिद्ध कहलाते हैं।

यह शिव और शक्ति का मेल पशु-वध में होता है। शक्ति शिव से भिन्न है यह कोई विरला ही समझता है।

जिसने अपनी देह से परमार्थ को भिन्न नही जाना वह अंधा दूसरे अंधों को कैसे मार्ग दिखा सकता है?

हे जोगी! तूँ अपने आत्मा का देह से भिन्न ध्यान कर। यदि देह को भी आत्मा मानेगा तो निर्वाण नही पा सकता।

बड़ा भारी छत्र पाकर भी सब काल में संताप पाता है। अपनी देह में वसने पर भी वाड़े में पाषाण ढुलवाता है। (अर्थात् छत्रधारी नरेश होकर के भी, लोभ और मोह के वश, जीव दुखी होता है। आत्मा का वास तो देह में है पर रहने के लिये पाषाणों के महल वनवाता है, यह सब मोहजाल है)।

सदैव मोटे और वड़े पशुओं को मत संताप पहुंचा। अपनी देह में वसने पर भी सूने मठ में वसने जाता है। (अर्थात् पशुओं का वलिदान देने में कल्याण नही है और न सूने मठों में रहने से ... में ही है)

रायवयल्लहिं छहरसहिं पंचहिं रूवहिं चित्तु ।
जासु ण रंजिउ भुवणयलि सो जोइय करि मित्तु ॥ १३२ ॥

तोडिवि सयल वियप्पडा अप्पहं मणु वि धरेहि ।
सोक्खु णिरंतरु तहिं लहहि लहु संसारु तरेहि ॥ १३३ ॥

अरि जिय जिणवरि मणु ठवहि विसयकसाय चएहि ।
सिद्धिमहापुरि पइसरहि दुक्खहं पाणिउ देहि ॥ १३४ ॥

मुंडियमुंडिय मुंडिया । सिरु मुंडिउ चित्तु ण मुंडिया ।
चित्तहं मुंडणु जिं कियउ । संसारहं खंडणु तिं कियउ ॥ १३५ ॥

अप्पु करिज्जइ काइं तसु जो अच्छइ सव्वंगओ संतें ।
पुण्णविसज्जणु काइं तसु जो हालि इच्छइ परमत्थें ॥ १३६ ॥

गमणागमणविवज्जियउ जो तइलोयपहाणु ।
गंगइ गम्मइ देउ किउ सो सण्णाणु अयाणु ॥ १३७ ॥

पुण्णेण होइ विहओ विहवेण मओ मएण मइमोहो ।
मइमोहेण य णरयं तं पुण्णं अम्ह मा होउ ॥ १३८ ॥

---

१ क. भुवणयलु. २ क. सुक्खु. ३ द. तैं. ४ क. कहिज्जइ.
५ क. सव्वंगउ संठिउ. ६ क. गुरु. ७ क. सोखें माणु सयाणु.
८ क मय

१३२ राग के कलकल से, छह रसों से व पांच रूपों से जिसका चित्त भुवनतल में रक्त न हुआ, हे जोगी ! उसको मित्र बना ।

१३३ समस्त विकल्पों को तोड़कर आत्मा में मन को धारण कर। वहीं तुझे निरन्तर सुख मिलेगा और तू शीघ्र संसार को तर जायगा ।

१३४ रे जीव ! जिनवर में मन को स्थिर कर, विषय-कषाय को छोड़, सिद्धि महापुरी में प्रवेश कर और दुखों को पानी (जलाञ्जलि) दे ।

१३५ हे मूँड मुड़ाने वालों में श्रेष्ठ मुंडी ! तूने सिर तो मुँड़ाया पर चित्त को न मोड़ा । जिसने चित्त का मुण्डन कर डाला उसने संसार का खण्डन कर डाला ।

१३६ आत्मा उसका क्या करेगा जो सर्वांग में सुस्थित रहता है ? जो भला परमार्थ की इच्छा करता है उसका पुण्य-विसर्जन क्या ?

१३७ जो गमनागमन से विवर्जित है, त्रैलोक्य में प्रधान है (वह भी देव है) तथा बड़ी गंगा में भी (लोक ने) देव माना है । वह सद्ज्ञान और अज्ञान है ।

१३८ पुण्य से विभव होता है विभव से मद मद से मति

कासु समाहि करउं को अंचउं ।
छोपु अछोपु भणिवि को वंचउं ॥
हल सहि कलह केण सम्माणउं ।
जहिं जहिं जोवउं तहिं अप्पाणउ ॥ १३९ ॥

जइ मणि कोहु करिवि कलहीजइ ।
तो अहिसेउ णिरंजणु कीजइ ॥
जहिं जहिं जोयउ तहिं णउ को वि उ ।
हउं ण वि कासु वि मज्झु वि को वि उ ॥ १४० ॥

णासिओ सि ताम जिणवर जाम ण मुणिओ सि देहमज्झम्मि ।
जइ मुणिउ देहमज्झम्मि ता केण णवज्जए कस्स ॥ १४१ ॥

ता संकप्पवियप्पा कम्मं अकुणंतु सुहासुहाजणयं ।
अप्पसरूवासिद्धी जाम ण हियए परिफुरइ ॥ १४२ ॥

गहिलउ गहिलउ जणु भणइ गहिलउ मं करि खोहु ।
सिद्धिमहापुरि पइसरइ उप्पाडेविणु मोहु ॥ १४३ ॥

---

१ क. में यह पंक्ति नहीं है. २ द. जं. ३ क. णिरंजण. ४ क. मुणसि. ५ क. मज्झं को नवइ नाविज्जए कस्स. ६ द. में यह दोहा नहीं है. ७ क ८ क °हो

किसकी समाधि करूँ? किसे पूजूँ? स्पृश्य-अस्पृश्य कहकर किसे छोड़ दूँ? भला, किस के साथ कलह ठानूँ? जहाँ जहाँ देखता हूँ तहाँ तहाँ अपनी ही आत्मा तो दिखाई देती है।

यदि मन में क्रोध कर के कलह करना है तो निरञ्जन अभिषेक करना चाहिये। जहां जहां देखा वहां कोई नही मिला। न मैं किसी का हूं, न मेरा कोई है। (अर्थात् यदि मन में राग-द्वेष की भावनाएं उठें तो उन्हे ठण्डी करना चाहिये और यह भावना दृढ करना चाहिये कि सच्चा आत्मा का संबन्ध आत्मा से ही है, अन्य किसी वस्तु से नही)।

हे जिनवर! तब तक तुझे नमस्कार किया जब तक अपनी देह के भीतर ही तुझे न जाना। यदि देह के भीतर ही तुझे जान लिया तब फिर कौन किसको नमन करे?

शुभ और अशुभ उत्पन्न करने वाले कर्म न करते हुए भी संकल्प और विकल्प तब तक रहते हैं जब तक हृदय में आत्मस्वरूप की सिद्धि स्फुरायमान न होजावे।

हठीला हठीला, लोग कहते हैं। हे हठी, क्षोभ मत कर। तूं मोह को उपाड कर ... में प्रवेश कर

अवयउ अक्खरु जं उप्पज्जइ ।
अणु वि किं पि अण्णाउ ण किज्जइ ॥
आयइं चित्तिं लिहि मणु धारिवि ।
सोउ णिचिंतिउ पायं पसारिवि ॥ १४४ ॥

किं बहुएं अडवड वडिण देह ण अप्पा होइ ।
देहहं भिण्णउ णाणमउ सो तुहुं अप्पा जोइ ॥ १४५ ॥
पोत्था पढणिं मोक्खु कहं मणु वि असुद्धउ जासु ।
बहुयारउ लुद्धउ णवइ मूलट्ठिउ हरिणंकु ॥ १४६ ॥
दयाविहीणउ धम्मडा णाणिय कह वि ण जोइ ।
बहुएं सलिलविरोलियइं करु चोप्पडा ण होइ ॥ १४७ ॥
भल्लाणं वि णासंति गुण जाहं सहु संगु खलेहिं ।
वइसाणरु लोहहं मिलिउ पिट्टिज्जइ सुघणेहिं ॥ १४८ ॥
हुर्यवहि णाइ ण सक्कियउ धवलत्तणु संखस्स ।
फिट्टीसइ मा भंति करि हुड्ड मिलिया सपरस्स ॥ १४९ ॥
संखसमुद्दहिं मुक्कियए एही होइ अवत्थ ।
जो दुक्खाहहं चुंबिया लाएविणु गलि हत्थ ॥ १५० ॥

---

१ क. मणि. २ द. पाउ. ३ क. में यह पूरी पंक्ति जो स्याही उड़ जाने से स्पष्ट नहीं पढ़ी जाती—'कारि अविकल ठिएण ह... वेहि'। ४ क. हरिणाह. ५ क. [illegible] ६ क. कहिं मि. ७ क. भल्लाहं मि. ८ द. हुव°. ९ क. [illegible] १० द. हु परस्स.

अवध (अहिंसा) शब्द (का भाव) उत्पन्न करना चाहिये और थोड़ा भी कोई अन्याय नहीं करना चाहिये। ये (बातें) मन लगाकर अपने चित्त में लिख लो और निश्चिंत पाँव पसार कर सोओ।

बहुत अटपट बड़बड़ाने से क्या? देह आत्मा नहीं है। देह से भिन्न जो ज्ञानमय है, हे जोगी, वही आत्मा तूँ है।

जिसका मन ही अशुद्ध है उसे पोथा पढ़ने से मोक्ष कहां? वध करने वाला लुब्धक (शिकारी) भी नीचे खड़ा होकर हरिण के सामने नमता है। (अर्थात् फल क्रिया के ऊपर नहीं किन्तु भाव के ऊपर निर्भर है)।

हे ज्ञानी जोगी! दया से विहीन धर्म किसी प्रकार नहीं हो सकता। बहुतसा पानी विलोडने से हाथ चिकना नहीं हो सकता।

जहां खलों का संग हुआ वहां भले पुरुषों के भी गुण नष्ट हो जाते हैं। लोहे से मिलकर अग्निदेव भी बड़े बड़े घनों से पीटे जाते हैं।

शंख की सफेदी का अग्नि में संस्कार न हुआ हो ऐसा नहीं है। तो भी यदि वह खैर से मिल गया तो बदल जायगा। इसमें भ्रान्ति मत कर! (अर्थात् सुशिक्षित पुरुषों पर भी कुसंगति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता)।

शंख की सम्पुटक (पेटिका) में पड़ी मुक्ता की ऐसी अवस्था होती है कि वह धीवरों द्वारा गल हाथ में लेकर बाहर निकाली जाती है। [श्लिष्टार्थ यह भी है कि शंख के आकार वाले अंग के कारण वाराङ्गना की यह अवस्था होती है कि वह नग्न पुरुषों द्वारा गले में हाथ डाल कर चूंबी जाती है।]

छंडेविणु गुणरयणाणिहि अग्घथडिहिं घिप्पंति ।
तहिं संखाहं विहाणु पर फुक्किज्जंति ण भंति ॥ १५

महुयर सुरतरुमंजरिहिं परिमलु रसिवि हयास ।
हियडा फुट्टिवि कि ण मुयेउ ढंढोलंतु पलास ॥ १५

मुंडु मुंडाइवि सिक्ख धरि धम्महं बद्धी आस ।
णवरि कुडुंबउ मेलियउ छुडु मिल्हिया परास ॥ १५

णग्गत्तणि जे गव्विया विग्गुत्ता ण गणंति ।
गंथहं बाहिरभिंतरिहिं एक्कु इ ते ण मुयंति ॥ १५४

अम्मिय इहु मणु हत्थिया विझह जंतउ वारि ।
तं भंजेसइ सीलवणु पुणु पडिसइ संसारि ॥ १५५ ॥

जे पढिया जे पंडिया जाहिं मि माणु मरट्टु ।
ते महिलाण हि पिंडि पडिय भमियइं जेम घरट्टु ॥ १

विद्धी वम्मा मुट्ठिएण फुसिवि लिहिहि तुहुं ताम ।
जह संखहं जीहालु सिवि सइच्छलइ ण जाम ॥ १

---

१ द. फुट्टिज्जंति भवंति. २ द. रसवि. ३ क.
४ द. °लंतउ. ५ क. मिल्लियउ. ६ द. मिलिया हु परस्ट
विगुत्ता. ८ क. इक्क. ९ क. महिलाहंहं. १० क. भमियहिं.
सिद्धा १२ क मुट्ठइण

गुणों के रत्नाकर (समुद्र) को छोड़कर विक्री की वस्तुओं के ढेर में फेंके जाते हैं, और फिर वहां शंखों का क्या विधान होता है? वे फूंके जाते हैं, इसमें भ्रान्ति नहीं। (अर्थात् जो सत्संगति छोड़ देते हैं उनकी बड़ी दुर्गति होती है)।

हे हताश मधुकर! कल्पवृक्ष की मञ्जरी के परिमल का रस लेकर अब पलाश पर भ्रमता फिरता है। तेरा हृदय क्यों न फूट गया और तूँ मर क्यों न गया?

मूँड मुँडाकर शिक्षा ली और धर्म की आशा बढी। किन्तु कुटुम्ब का त्याग तभी (सार्थक) है जो पराई आशा छोड़ दी।

जो नग्नत्व (दिगम्बरत्व) का गर्व करते हैं और विगुप्त (वस्त्रधारियों) को कुछ नहीं गिनते वे वाह्य और अभ्यंतर परिग्रहों में से एक का भी त्याग नहीं करते। (अर्थात् अपने वेष का गर्व करना और दूसरों के वेष को हीन गिनना सच्चे त्याग का लक्षण नहीं है)।

अहो! इस मन रूपी हाथी को विंध्य (पर्वत) की ओर जाने से रोको। वह शील रूपी वन को भंग कर देगा और फिर संसार में पड़ेगा।

जो पढे लिखे हैं, जो पंडित हैं, जिनके मान–मर्यादा है, वे भी महिलाओं के पिंड में पड़ कर चक्की के पाट के समान चक्कर काटते हैं।

मुष्टि द्वारा भेदे हुए चर्म (मर्म) को तूँ तब तक स्पर्श करके चाट ले जब तक शंख में की जिह्वालोलुपी सी के सदृश शिथिल न हो जाय (?)

पत्तिय तोडेहि तडतडह णाइं पइट्ठा उट्टु ।
एव ण जाणहि मोहिया को तोडइ को तुट्टु ॥ १५८ ॥

पत्तिय पाणिउ दब्भ तिल सव्वइं जाणि सवण्णु ।
जं पुणु मोक्खहं जाइवउ तं कारणु कु इ अण्णु ॥ १५९ ॥

पत्तिय तोडि म जोइया फलहिं जि हत्थु म वाहि ।
जसु कारणि तोडेहि[3] तुहुं सो सिउ एत्थु चडाहि ॥ १६० ॥

देवलि पाहणु तित्थि जलु पुत्थइं सव्वइं कव्वु ।
वत्थु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु ॥ १६१ ॥

तित्थइं तित्थ भमंतयहं किं णेहा फल हूव ।
बाहिरु सुद्धउ पाणियहं अब्भिंतरु किम हूव ॥ १६२ ॥

तित्थइं तित्थ भमेहि वढ धोयउ चम्मु जलेण ।
एहु मणु किम धोएसि तुहुं मइलउ पावमलेण ॥ १६३ ॥

जोइय हियडइ जासु ण वि इक्कु ण णिवसइ देउ ।
जम्मणमरणविवज्जियउ किम पावइ परलोउ ॥ १६४ ॥

---

१ द. तोडि तडत्तडइ. २ क. मुक्खहं. ३ क. तोडेसि. ४ द. चडावि. ५ द. तित्थ. ६ क. काउ. ७ क. सव्वु वि. ८ क. काउ ९ द णेहउ १० क तित्थइ भमहि वढ ११ क. सो

तूँ तड़ातड़ पत्तियाँ तोड़ता है मानों ऊंट का प्रवेश हुआ हो। मोह में वशीभूत होकर तूँ यह नही जानता कि कौन तोड़ता है और कौन टूटता है। (अर्थात् वनस्पति में भी वही आत्मा है जो मनुष्य में है, इसलिये वृक्षों को भी व्यर्थ नही सताना चाहिये।)

पत्ती, पानी, दर्भ, तिल, इन सब को अपने समान ही जान! फिर यदि मोक्ष को जाना है तो उसका कारण कोई अन्य ही है। (अर्थात् उक्त वस्तुओं को देव को चढाने से मुक्ति नही मिलती। मोक्ष का उपाय तो आत्मध्यान ही है।)

हे जोगी! पत्ती मत तोड़ और फलों पर भी हाथ मत बढा। जिसके कारण से तूँ इन्हे तोडता है उसी शिव को यहां चढा दे।

देवालय में पाषाण है, तीर्थ में जल और सब पोथियों में काव्य हैं। जो वस्तु फूली फली दिखती है वह सब ईंधन हो जायगी। (अर्थात् उक्त सब वस्तुएं नश्वर हैं, उनके द्वारा आत्मकल्याण नही हो सकता।)

एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ का भ्रमण करनेवालों को कुछ फल न हुआ। बाहर तो पानी से शुद्ध होगया पर अभ्यंतर का क्या हाल हुआ?

हे मूर्ख! तूँ ने तीर्थ से तीर्थ भ्रमण किया और अपने चमड़े को जल से धो लिया। पर तूँ इस मन को, जो पापरूपी मल से मैला है, किस प्रकार धोयगा?

हे जोगी! जिसके हृदय में एक जन्म-मरण से विवर्जित देव निवास नही करता वह परलोक को कैसे पा सकता है?

एक्कु सुवेयइ अण्णु ण वेयइ।
तासु चरिउ णउ जाणहिं देव इ॥
जो अणुहवइ सो जि परियाणइ।
पुच्छंतहं समित्ति को आणइ॥ १६५॥

जं लिहिउ ण पुच्छिउ कह व जाइ।
कहियउ कासु वि णउ चित्ति ठाइ।
अह गुरुउवएसें चित्ति ठाइ।
तं तेम धरंतिहिं कहिं मि ठाइ॥ १६६॥

कड्ढइ सरिजलु जलहिविपिल्लिउ।
जाणु पवाणु पवणपडिपिल्लिउ॥
बोहु विबोहु तेम संघट्टइ।
अवर हि उत्तउ ता णुं पयट्टइ॥ १६७॥

अंबरि बिंबिहु सद्दु जो सुम्मइ।
तहिं पइसरहुं ण वुच्चइ दुम्मइ॥
मणु पंचहिं सिहुं अत्थवण जाइ।
मूढा परमतत्तु फुडु तहिं जि ठाइ॥ १६८॥

---

१ क. जाणइ. २ क. में आगे के तीन चरण नहीं है। ३ द. जाण. ४ क. संवट्टइ. ५ क. ण. ६ क. सिउ. ७ क.

एक अच्छी तरह जानता है, दूसरा कुछ नही जानता। उसका चरित्र देव भी नही जानते। जो अनुभव करता है वही पूर्ण रूप से जान पाता है। पूछने वालों की संतृप्ति कौन लावे? (अर्थात् आत्मा का सच्चा ज्ञान स्वानुभव से ही हो सकता है, परोक्ष साधनों से नही।)

जो किसी प्रकार लिखा व पूछा नही जाता, जो कहने से किसी के चित्त में नहीं ठहरता, वह गुरु के उपदेश से ही चित्त में ठहरता है। इस प्रकार धारण करने वालों में वह कहीं भी स्थित है। (अर्थात् जब गुरु के उपदेश से आत्मा का स्वरूप समझ में आ जाता है तब वह सर्वत्र दिखाई देने लगता है।)

नदी का जल जलधि द्वारा विरुद्ध दशा में प्रेरित होकर खिंचता है, तथा बड़ा भारी जहाज पवन से प्रेरित होकर (चलता है)। उसी प्रकार जब बोध और विबोध का संघट्ट होता है तब दूसरी ही बात प्रवृत्त हो जाती है।

आकाश में जो विविध शब्द सुनाई पड़ता है, दुर्मति उसके उत्तर में कुछ नही बोलता। जब मन पांचों [इन्द्रियों] सहित अस्त हो जाता है, तब, हे मूढ वह परमतत्व स्फुट रूप से वहीं स्थित रहता है।

अखई णिरामइ परमगइ अज्ज वि लउ ण लहंति ।
भंग्गी मणहं ण भंतडी तिम दिवहडा गणंति ॥ १६

सहजअवत्थहिं करहुलउ जोइंय जंतउ वारि ।
अखंइ णिरामइ पेसियउ सइं होसइ संहारि ॥ १७०

अखई णिरामइ परमगइ मणु घल्लेप्पिणु मिल्लि ।
तुट्टेसइ मा भंति करि आवागमणहं वेल्लि ॥ १७१ ।

एमइ अप्पा झाइयइ अविचलु चित्तु धरेवि ।
सिद्धिमहापुरि जाइयइ अट्ठ वि कम्म हणेवि ॥ १७

अक्खरचँडिया मसिमिलिया पाढंता गय खीण ।
एक्क ण जाणी परम कला कहिं उग्गउ कहिं लीण ॥

वे भंजेविणु एक्कु किउ मणहं ण चारिय विल्लि ।
तहि गुरुवहि हउं सिस्सिणी अण्णहि करमि ण लल्लि ॥

अग्गइं पच्छइं दहदिहहिं जहिं जोवउं तहिं सोइ ।
ता महु फिट्टिय भंतडी अवसु ण पुच्छइ कोइ ॥ १८

१ द. अखय. २ द. भग्गा. ३ द. जोई. ४ क. f
५ क ी

अक्षय, निरामय, परमगति में अभी तक लय को प्राप्त नही होते और मन की भ्रान्ति मिटी नहीं। इसी प्रकार दिन गिनते हैं। (अर्थात् आत्मा में लीन हुए विना सच्चा आत्मकल्याण नही हो सकता।)

हे जोगी। सहज अवस्था में जाते हुए इस करभ (ऊंट) को रोक। अक्षय, निरामय में प्रेषित होकर यह स्वयं अपना संहार कर डालेगा। (अर्थात् मन जब आत्मा में लीन हो जाता है तब आपही उसकी वृत्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है।)

अक्षय, निरामय, परमगति में मन को फेंक कर छोड़ दे। आवागमन की वेल टूट जायगी, इसमें भ्रान्ति मत कर।

इस प्रकार चित्त को अविचल धारण करके आत्मा का ध्यान किया जाता है, और आठों कर्मों का नाश करके सिद्धि महापुरी को गमन किया जाता है।

अक्षरारूढ, स्याहीमिश्रित (ग्रंथों) को पढते पढते क्षीण होगये, किन्तु एक परम कला न जानी कि (यह जीव) कहां ऊगा और कहां लीन हुआ।

जिसने दो को मिटा कर एक कर दिया और मन की वेल का चारण न होने दिया, उस गुरु की मैं शिष्यानी हूँ, अन्य किसी की मैं लालसा नहीं करती।

आगे, पीछे, दशों दिशाओं में जहां मैं देखता हूं तहां

जिम लोणु विलिज्जइ पाणियहं तिम जइ चित्तु वि
समरसि[1] हूवइ जीवडा काइं समाहि करिज्ज ॥ १७

जंइ इक हि पावीसि[3] पय अंकय कोडि करीसु ।
णं अंगुलि पय पयडणइं जिम सव्वंग य सीसु (?)

तित्थइं तित्थ भमंतयहं संताविज्जइ देहु ।
अप्पें अप्पा झाइयइं णिव्वाणं पउ देहु ॥ १७८ ॥

जो पइं जोइउं जोइया तित्थइं तित्थ भमेइ ।
सिउ पइं सिहुं [4]हिंडियउ लहिवि ण सकिउ तोइ

मूढा जोवइ देवलइं लोयहिं जाइं कियाइं ।
देह ण पिच्छइ अप्पणिय जहिं सिउ संतु ठियाइं ॥

वामिय किय अरु दाहिणिय मज्झइं वहइ णिराम ।
तहिं गामडा जु जोगवइ अवर वसावइ गाम ॥ १

देव तुहारी चिंत महु मज्झणपसरवियालि ।
तुहुं अच्छेसहि[5] जाइ सुउ परइ णिरामइ पालि ॥

---

१ क. समरस हूयउ. २ क. में दोहा नं. १७७ औ क्रम इससे विपरीत है, किन्तु स्याही उड़ जाने से अक्षर इतने अ है कि पाठ संशोधन में उस प्रति से यहां कोई विशेष सहायता सकी । ३ द. पावासि ४ द हंढियउ ५ द अच्छेसहु

जैसे लवण पानी में विलीन हो जाता है, तैसा यदि चित्त विलीन हो गया तो जीव समरस हो गया। और समाधि में क्या किया जाता है?

यदि एक ही पद को पा गया तो अकृत कौतुक करूंगा। जैसे अंगुलि और पद प्रगट करने से अवश्य सब अंग प्रगट हो जाते हैं। (टिप्पणी देखो)।

एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ को भ्रमण करने वालों की केवल देह को संताप पहुंचता है। आत्मा में आत्मा का ध्यान करके निर्वाण में पैर दो।

हे जोगी! जिसे देखने के लिये तूँ तीर्थों तीर्थ भ्रमण करता फिरता है वह शिव भी तेरे साथ साथ घूमता फिरा, तो भी तूँ उसे न पा सका।

मूर्ख उन देवालयों को तो देखता है जो लोगों के द्वारा बनाये गये हैं, किन्तु अपनी देह नही देखता जहां संत शिव स्थित है।

बायीं ओर ग्राम बसाये और दहिनी ओर, किन्तु मध्य को सूना रक्खा। हे जोगी, वहां एक और ग्राम बसा।

हे देव! मुझे तुम्हारी चिन्ता है। जब मध्याह्न के प्रसार का अन्त हो जायगा तब तूँ तो जाकर सो रहेगा और

पाली सूनी पड़ जायगी

तुट्टइ बुद्धि तडत्ति जहिं मणु अंथवणहं जाइ ।
सो सामियं उवएसु कहि अण्णहिं देवहिं काइं ॥

सयलीकरणु ण जाणियउ पाणियंपण्णहं भेउ ।
अप्पापरहु ण मेलयउ गंगहु पुज्जइ देउ ॥ १८४ ।

अप्पापरहं ण मेलयउ आवागमणु ण भग्गु ।
तुस कंडंतहं कालु गउ तंदुलु हत्थि ण लग्गु ॥ १

देहादेवलि सिउ वसइ तुहुं देवलइं णिएहि ।
हासउ महु मणि अत्थि इहु सिद्धें भिक्ख भमेहि ।

वणि देवालि तित्थइं भमहि आयासो वि णियंतु ।
अम्मिय विहडिय भेडियां पसुलोगडा भमंतु ॥ १

वे छंडेविणु पंथडा विचे जाइ अलक्खु ।
तहो फल वेयहो किं पि णउ जइ सो पावइ लक्खु

जोइय विसमी जोयगइ मणु वारणहं ण जाइ ।
इंदियविसय जि सुक्खडा तित्थइं वलि वलि जाइ ॥

---

१ द. सामिउ. २ क. पाणिध. ३ द. मेलिय
अत्थि ५ द. भेट्टिया ६ क तहु ७ क तित्थु जि ८

जिससे बुद्धि तड़ से टूट जाय और मन भी अस्त हो जाय, हे स्वामी, ऐसा उपदेश कहिये। अन्य देवों से क्या ?

न सकलीकरण जाना, न पानी और पर्ण का भेद, और न आत्मा का और पर का मेल। क्षुद्र देव को पूजता है।

न आत्मा और पर का मेल हुआ और न आवागमन भंग हुआ। तुष कूटते काल गया और एक तंदुल हाथ न लगा।

देहरूपी देवालय में शिव निवास करता है, तू देवालय में ढूँढता है। मेरे मन में यह हँसी आती है कि तू सिद्ध से भीख मँगवाता है।

वन में, देवालय में, तीर्थों में भ्रमण किया और आकाश में भी देखा। अहो, इस भ्रमण में भेड़िये और पशु लोगों से भेंट हुई।

दोनों मार्गों को छोड़कर अलक्षण (अभागी) बीच में जाता है। उसे दोनों का कुछ फल नहीं मिलता जिससे वह लक्ष्य को पा जावे।

हे जोगी ! जोग की गति विषम है। मन रोका नहीं जाता। इन्द्रिय-विषयों के जो सुख हैं उन्हीं पर वलि वलि जाता है (बलिदान होता है)

वड्ढउ तिहुवणु परिभमइ मुक्कउ पउ वि ण देइ ।
दिक्खु ण जोइय करहुलउ विवरेरउ पउ देइ ॥ १९

संतु ण दीसइ तत्तु ण वि संसारेहिं भमंतु ।
खंधावारिउ जिउ भमइ अवराडइहिं रहंतु ॥ १९१

उव्वस वसिया जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु ।
बलि किज्जउ तसु जोइयहि जासु ण पाउ ण पुण्णु

कम्मु पुराइउ जो खवइ अहिणव पेसु ण देइ ।
अणुदिणु झायइ देउ जिणु सो परमप्पउ होइ ॥१९

विसया सेवइ जो वि परु बहुला पाउ करेइ ।
गच्छइ णरयहं पाहुणउ कम्मु सहाउ लएइ ॥१९४।

कुहिएण पूरिएण य छिद्देण य खारमुत्तगंधेण ।
संताविज्जइ लोओ जह सुणहो चम्मखंडेण ॥१९५॥

देखंताहं वि मूढ वढ रमियइं सुक्खु ण होइ ।
अम्मिए मुत्तहं छिद्दु लहु तो वि ण विणडइ कोइ ।

---

१ क. तिहुयणु. २ क. जु. ३ द. खंधाया°: क.
४ द. चि. ५ क. पुरायउ. ६ द. जोइ. ७ क. पर. ८ क
९ द. छुडु १० क को वि

बंधा हुआ त्रिभुवन में परिभ्रमण करता है और मुक्त हुआ पांव भी नही देता। हे जोगी! करभ को देखो न विपरीत पांव देता है।

संसार में भ्रमण करते हुए न संत दिखता और न तत्व। किन्तु जीव स्कंधावार (फौज) सहित दूसरों की रक्षा करता हुआ भ्रमता है। (अर्थात् संसारी जीव तत्व की खोज तो नही करता, इन्द्रिय और मन की फौज सहित पर की रक्षा में लगा फिरता है।)

जो उजाड़ को वासित और वासित को उजाड़ करता है, हे जोगी! उसकी बलिहारी है, जिसके पाप है न पुण्य।

जो पुराने कर्म को खपाता है और नयों को प्रवेश नही देता तथा अनुदिन जिनदेव का ध्यान करता है वह परमात्मा हो जाता है।

और दूसरा, जो विषयों का सेवन तथा बहुत से पाप करता है, वह कर्म की सहायता लेकर नरक का पाहुन बन कर जाता है।

कुत्सित, क्षार-मूत्र की गन्ध से पूरित छिद्र लोक को संताप पहुंचाता है, जैसे कुत्ते को चर्म-खण्ड।

हे मूर्ख वेढ देखने वालों को या रमण से सुख नहीं

जिणवरु झायहि जीव तुहुं विसयकसायहं खोइ ।
दुक्खु ण देक्खहि कहिं मि वढ अजरामरु पउ होइ

विसयकसाय चएवि वढ अप्पहं मणु वि धरेहि ।
चूरिवि चउगइ णित्तुलउ परमप्पउ पावेहि ॥१९८॥

इंदियपसरु णिवारियइं मण जाणहि परमत्थु ।
अप्पा मिल्लिवि णाणमउ अवरु विडाविड सत्थु ॥१९

विसया चिंति म जीव तुहुं विसय ण भल्ला होंति ।
सेवंताहं वि महुर वढ पच्छइं दुक्खइं दिंति ॥२००॥

विसयकसायहं रंजियउ अप्पहिं चित्तु ण देइ ।
वंधिवि दुक्कियकम्मडा चिरु संसारु भमेइ ॥२०१॥

इंदियविसय चएवि वढ करि मोहहं परिचाउ ।
अणुदिणु झावहि परमपउ तो एहउ ववसाउ ॥२०२

णिज्जियसासो णिप्फंदलोयणो मुक्कसयलवावारो ।
एयाइं अवत्थ गओ सो जोयउ णत्थि संदेहो ॥२०३

---

१ द. झावहे. २ द. जिम सिवपुरि पावेइ. ३ क. ४ द. चूरहि. ५ द. °पसर. ६ क. अप्पहं. ७ द. ८ क झायहि.

१९७ हे जीव ! तूँ विषय-कषाय को खोकर जिनवर का ध्यान कर, जिससे, हे मूढ ! फिर कभी दुख न देखे और अजरामर पद होवे ।

१९८ हे मूर्ख ! विषय-कषाय को छोड़ कर आत्मा में मन को धारण कर, तथा चतुर्गति को चूर कर, अतुल परमात्म-पद को प्राप्त कर।

१९९ इन्द्रियों के प्रसार का निवारण करने में ही, हे मन ! परमार्थ जान। ज्ञानमय आत्मा को छोड़कर और शास्त्र कल्पित हैं।

२०० हे जीव ! तूँ विषयों की चिन्ता मत कर। विषय भले नहीं होते। सेवन करते समय तो मधुर लगते हैं, किन्तु, हे मूर्ख ! पीछे दुःख देते हैं।

२०१ विषय-कषाय में रंजित होकर आत्मा में चित्त नहीं देता। दुष्कृत कर्मों को बांध कर चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता है।

२०२ हे मूर्ख ! इन्द्रिय-विषयों को छोड़कर मोह का भी परित्याग कर। अनुदिन परमपद का ध्यान कर। तो यह व्यवसाय बने।

२०३ श्वास को जीत लिया, लोचन निस्पंद होगये, सब व्यापार छूट गया। ऐसी अवस्था को पहुंच जाय वही जोग है इसमें सन्देह नहीं।

तुट्टे मणवावारे भग्गे तह रायरोससब्भावे ।
परमप्पयम्मि अप्पे परिट्ठिए होइ णिव्वाणं ॥२०४॥

विसया सेवहि जीव तुहुं छंडिवि अप्पसहाउ ।
अण्णइ दुग्गइ जाईसिहि तं एहउ ववसाउ ॥२०५॥

मंतु ण तंतु ण धेउ ण धारणु ।
ण वि उच्छासह किज्जइ कारणु ॥
एमइ परमसुक्खु मुणि सुव्वइ ।
एही गलगल कासु ण रुच्चइ ॥२०६॥

उववास विसेस करिवि बहु एहु वि संवरु होइ ।
पुच्छइ किं बहु वित्थरिण मा पुच्छिज्जइ कोइ ॥२०७॥

तउ करि दहविहु धम्मु करि जिणभासिउ सुपसिद्धु ।
कम्महं णिज्जर एह जिय फुडु अक्खिउ मइं तुज्झु ॥२०८॥

दहविहु जिणवरभासियउ धम्मु अहिंसासारु ।
अहो जिय भावहि एकमणु जिम तोडहि संसारु ॥२०९॥

---

१ द. रोय. २ द. अप्पो परिट्ठिओ. ३ द. अप्पु. ४ द. जाणि ५ द सुक्ख ६ द सुच्चइ ७ द उववासिसेस

२०४ जब मन का व्यापार छूट गया, तथा राग-रोष का सद्भाव भग्न हो गया और आत्मा परमपद पर परिस्थित हो गया, तभी निर्वाण है।

२०५ हे जीव, तूँ आत्म-स्वभाव को छोड़कर विषयों का सेवन करता है, इससे, हे जोगी! अन्य दुर्गति में जायगा। यह ऐसा ही व्यवसाय है।

२०६ जब न मंत्र, न तंत्र, न ध्येय, न धारण, न उच्छ्वास का कारण किया जाता है तब मुनि परम सुख से सोता है। यह गड़बड़ किसी को नहीं रुचती।

२०७ बहुतसे विशेष उपवास करके यह संवर होता है। और बहुत विस्तार से पूछने से क्या लाभ? किसी से कुछ मत पूछ।

२०८ तप कर, जिन द्वारा भाषित, सुप्रसिद्ध, दशविध धर्म कर। हे जीव! यही कर्मों की निर्जरा है। मैंने तुझे स्पष्ट बता दिया।

२०९ हे जीव! जिनवर द्वारा भाषित, दशविध, अहिंसाचार धर्म की एक मन से भावना कर जिससे तूँ संसार को तोड़ दे

भवि भवि दंसणु मलरहिउ भवि भवि करउं समाहि
भवि भवि रिसि गुरु होइ महु णिहयमे[1]णुब्भववाहि ॥

अणुपेहा बारह वि जिय भाविवि[2] एक्कमणेण ।
रामसीहु मुणि इमै[3] भणइ सिवपुरि पावहि जेण ॥२१

सुण्णं ण होइ सुण्णं दीसइ सुण्णं च तिहुँवणे[4] सुण्णं ।
अवहरइ पावपुण्णं सुण्णसहावेण[5] गओ अप्पा ॥२१२॥

वेपंथेहिं[6] ण गम्मइ वेमुहसूई ण सिज्जए कंथा ।
[8]त्रिण्णि ण हुंति अयाणा इंदियसोक्खं[9] च मोक्खं च

उववासह होइ पलेवणा संताविज्जइ देहु ।
घरु डज्झइ इंदियतणउ मोक्खहं कारणु एहु ॥२१४॥

अच्छउ भोयणु ताहं घरि सिद्धु[10] हरेप्पिणु जेत्थु ।
ताहं समउ जय [11]कारियइं तो[12] मेलियइ समत्तु ॥२१५।

जइ लद्धउ माणिक्कडउ जोइय पुहवि भमंत ।
बंधिज्जइ णियकप्पडइं जोइज्जइं[13] एक्कंत ॥२१६॥

---

१ क. °माणु°. २ क. भवि भावि इक्क°. ३ क
४ क तिहुयणे ५ क °सहावे ६ क वेविंथि ७ क° स

वादविवादा जे करहिं जाहिं ण फिट्टिय भंति
जे रत्ता गउपावियइं ते गुप्पंत भमंति ॥ २१९

कायोऽस्तीत्यर्थमाहारैः कायो ज्ञानं समीहते ।
ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं पदम् ॥ २१

कालहिं पवणहिं रविससिहिं चहु एकट्ठइं वासु
हउं तुहिं पुच्छउं जोइया पहिले कासु विणासु

ससि पोखइ रवि पज्जलइ पवणु हलोले लेइ ।
सत्त रज्जु तमु पिल्लि करि कम्महं कालु गिलेइ

मुखनासिकयोर्मध्ये प्राणान् संचरते सदा ।
आकाशे चरते नित्यं स जीवो तेन जीवति ॥

आपदा मूर्च्छितो वारिचुलुकेनापि जीवति ।
अंभःकुंभसहस्राणां गतजीवः करोति किम् ॥ २

इय पाहुड-दोहा समत्ता ।

---

१ क °विरउ २ द भमंति ३ क द
द °हार. ५ क जीवते

जो वादविवाद करते हैं, जिनकी भ्रान्ति नहीं मिटी और जो अपनी बड़ाई करने में रक्त हैं वे भ्रान्त हुए (संसार में) भ्रमण करते रहते हैं।

काय है इसलिये आहार किया जाता है, काय ज्ञान के लिये प्रयत्न करता है, ज्ञान कर्म के विनाश के लिये है। उसका नाश होजाने पर परम पद है।

काल, पवन, रवि और शशि चारों का इकट्ठा वास है। हे जोगी ! मैं तुझे पूछता हूं पहले किस का विनाश (होने वाला है)।

शशि पोषण करता है, रवि प्रज्वलित करता है, पवन हिलोरें लेता है। किन्तु सात रज्जु अंधकार को पेल कर काल कर्मों को खा जाता है।

जो मुख और नासिका के मध्य सदा प्राणों का संचार करता है, जो नित्य आकाश में विचरण करता है, यह जीव उसी से जीता है।

जो आपद् से मूर्छित है वह एक चुल्लु जल से जी उठता है। किन्तु जो मृतजीव है उसे पानी के हजारों घड़ों से भी क्या लाभ ?

इति प्राभृतदोहा समाप्त ।

शब्दकोश

इस कोश में ग्रंथ के कुल शब्दों के संस्कृत रूप तथा दोहा नम्बर देने का प्रयत्न किया गया है। जो शब्द एक ही अर्थ में बहुत बार आया है उसके दो तीन दोहा नम्बर देकर आदि लिख दिया गया है। हिन्दी रूप एक तो संस्कृत रूप से ही प्रगट हो जाते हैं, दूसरे अनुवाद में वे आ चुके हैं, इससे यहां अलग नहीं दिये गये। हां, विशेष शब्दों के साम्हने * चिह्न लगा दिया गया है। निम्न संकेताक्षरों का प्रयोग किया गया है:—
गु. गुजराती; दे. देशीनाममाला हेमचन्द्र कृत; म मराठी; हि. हिन्दी;
हेम. हेमचन्द्रकृत प्राकृत व्याकरण.

अ

अकयत्थ – अकृतार्थ ११५.
अकुणंत – अकुर्वत् १४२.
अकुलीण – °न ९९.
अक्खर – अक्षर ९७, १२४, १४४, १७३.
अक्खरड – अक्षर+ड (अल्पार्थे) ८६.
अक्खिअ – आख्यात २०८.
अक्खय अक्षय १६९ १७१
अक्खुणि अक्षयिनी ४२
अग्ग – अग्र ४७, १७५.
अग्घ – अर्घ्य १५१.
अच्चित्त – अचित् ४६.
अचिंत – (तत्सम) ४६.
*__अच्छ__ – आ+क्षि (निवासगत्योः)
°इ=वसति ५८, १२१, १२६;
°च्छेसि – वससि ९१;
°च्छेसइ=वसिष्यसि १८२;
°च्छउ=आस्ताम् २१५;
अच्छंत – वसत् ११२-
अच्छेय आश्चेय ९०

*अछोप – अस्पृश्य ११९. ('स्पृशेः छिप्पः' हेम. ४ २५७).

अजरामर – (तत्सम) २३, १९७.

अग्ग – अग्र १३९.

अग्गु – अग्र १११.

अट्ठ – अष्ट ६३, १७२.

*अडवड – अटपट (ध्वनिवाचक) ६, १४५.

अणक्खर – अनक्षर (अक्षय), १२४.

अणंत – अनन्त ५४.

अणाइ – अनादि ८९.

अणु – (तत्सम) १४४.

अणुदिणु – अनुदिनम् १९३, २०२.

अणुपेहा – अनुप्रेक्षा २११ (टिप्पणी देखो).

अणुराअ – अनुराग २२, ३८.

अणुलग्ग – अनुलग्न ४७.

अणुहवइ – अनुभवति १३५.

अण्ण – अन्य ९, ४०, ४२ आदि.

अण्णाअ – अन्याय १४४.

अण्णाण – अज्ञान ६७.

अत्थ – अर्थ ८५.

अत्थवण – अस्तमने १६८

अत्थि – अस्ति ३५, १८६.

अथिर – अस्थिर १९.

अद्दुवियड्ढ – (?) अटवी + अटवी ११४.

अप्प – आत्मन् ४४, ८४ आदि.

अप्पय – आत्मन् ९.

अप्पणिय – आत्मीय (हि अपनी) १८०

अप्पा – आत्मन् ३, ८, अप्पाए (तृतीया) ७५.

अप्पाण – आत्मन् २५, ३३, ३६, ५१, आदि.

अप्पापर – आत्म+पर २, ९५, १८४, १८५.

अप्पायत्त – आत्म+आयत्त २.

अप्पुणु – आत्मना (म आपण) ८३.

अब्भिंतर – अभ्यन्तर ६१, १६२.

अभय – (तत्सम) १०५.

अम्मिए – (अम्मिके शब्दों के समान सम्बोधनार्थक) ५१, १५५, १८७, १९६.

अम्ह – अस्माकम् १३८, अम्हहिं- अस्माभिः १३८.

अयाण – अजानत् (अजान) ७, १२७, २१२

अरि – अरे (सम्बोधनार्थक) ९० १३३

अरु – अपरम्, (हि. और)१८१.
अलक्ख – अलक्ष्य १८८.
अलहंत – अलभमान २३.
अवत्थ – अवस्था १५०, १७०, २०३.
अवध – (तत्सम) अहिंसा १४४.
अवर – अपर ३७, ६२, ११४, आदि.
अवहर – अप+हृ, °इ–°ति २१२.
अवराड – अपर+ड (अल्पार्थे) १९१.
अवरुप्परु – अपरापरम् १२५.
अवसर –(तत्सम) १०३.
अवसु – अवश्यम् १७५.
अवस्स – अवश्य ७४.
अविचल – (तत्सम) १२, ८१, १७२.
असरीर – अशरीर १२१.
असुद्ध – अशुद्ध १४६.
असुह – अशुभ ७२, १४२.
असुंदर – (तत्सम) ७२.
अह – अथ ९३, १६६.
अहम्म – अधर्म २९, ७२.
अह व – अथ वा ८३.
अहिणव – अभिनव ७७, १९३.
~ अभिलाष १६
अहिसेअ –अभिषेक १४०
अहिंसा – (तत्सम) २०९.
अहुट्टहं – (?) अधस्तात् ९४.
अहो – (तत्सम) २०९.
अंकय – अङ्कत १७७.
अंग – (तत्सम) १००.
अंच – अर्च् (पूजायाम्) °उं= अर्चयामि १३९.
अंत – (तत्सम) ९८.
अंध – (तत्सम) १२८.
अंथवण – अस्तमन १८३ (देखो अत्थवण).
अंबर – (तत्सम) १४, १६८.

आ

आगम – (तत्सम) ९.
आगमण – °न ४५.
°**आजणय** – आ+जनक १४२.
आण – आ+नी, °इ=आनयति १६५. (म. आण)
आणंद – आनन्द १२६.
आणी – आनीता ९९.
आभुंजंत – आ+भुञ्जत् ४.
आयअ – आपद् ६.
आयइं – एतानि १४४. ('इदम आयः' हेम ४, ३६५).
आयास – आकाश १८७.
आराहिज्ज आ+राध (कर्मणि) °इ–आराध्यते ५०

*उल्लूर – उत् + लु. °रियहि=
उद्+लुनाती ११२ (हेम.४,
११६ के अनुसार यह तुड
(त्रुट्) धातुका आदेश है).
उवएस – उपदेश १६६, १८३.
उवएसड – उपदेश+ड (अल्पार्थे)
४६.
उवयार – उपकार १८.
उववास – उपवास २०७,२१४.
उव्वर – उर्वर °इ ५१
(हि. उबरना)
*उव्वालि – उद्वर्तन (?)
(हि. उपटन) १८.
उव्वस – उद्वास (उजाड़) १९२.

ए

एउ – एतत् ३९; एण-एते १२०;
एहिं-एताभ्याम् ७२.
एक – (तत्सम) १००.
एक्क – एक ७, २९ आदि.
एक्कट्ठ – एकत्र २१९.
एक्कल – एकाकिन् ७५.
(हि. अकेला)
एक्कमण – एक+मनस् २०९,२११.
एक्कंत – एकान्त २१६.
एत्तडअ – एतावत् ६२.
एत्थु अत्र १६०
एम – एवम् ४.
एमइ – एवम् ४४, १७२, २०६.
एयाइं – एनाम् २०३.
एव – एवम् १५८.
एह – एतत् २६, ३०, ६४,१६३,
२०५, आदि.
एही – एषा, ईदृशी ९५, १५०
२०६

क

कच्च – काच ७१.
कज्ज – कार्य २८,
कड्ढ – कृष् °इ=कर्षति १६७.
कण – (तत्सम) ८४, ८५.
कप्पड – कर्पट २१६.
कपास – कार्पास १०९.
कम्म – कर्मन् ७, २४ आदि.
कम्मड – कर्म+ड (कुत्सार्थे)
११७, २०१.
कम्मायत्त – कर्मायत्त ९.
कयंत – कृतान्त १२.
कर – कृ °इ=करोति ७, ४२
आदि; °उं=करोमि १३९,
२१०; °मि=करोमि १७४;
°हि=कुरु १३, ९२; °हिं=
कुर्वन्ति २१७; °रंति=कुर्वन्ति
८०, करि-कृत्वा २ १८ आदि,

किण्ण – किम्+न १९.
किम – किम् (कथम्)४२, ६५, १६२, १६२.
किय – कृत ११३, १२५.
किरिया – क्रिया १९.
कीलइ – क्रीडति ११०.
कुइ – कोऽपि १५९.
कुडि – कुटी ५२.
कुडिल्ली – कुटी + ल (स्वार्थ)९१.
कुडुंव – कुटुम्ब १५३.
कुणइ – करोति ६०; °हि = करोषि ९८.
कुतित्थ – कुतीर्थ ८०.
कुल्हाडि – कुठारिका (हि – कुल्हाड़ी) १७.
कुसुमिय – °त १६१.
कुहिअ – कुथित १९५.
*केरअ – सम्बन्ध वाचक ३६.
केवल – ज्ञानविशेष ६८.
केवलणाण – °ज्ञान १४,२२,६७.
को – कः ४०,४१; कम् १३९; केण=केन, कासु–कस्य १३९.
कोइ – कोऽपि २७,५२,११४.
*कोड्डि – कुतूहल ११७ (हेम. २, १७४ कुतूहल=कुड्ड: (४,४२२, कौतुकस्य कोड्ड:) टिप्पणी देखो.
कोडि – कोटि ३.
को वि – कोऽपि ३९.
कोह – क्रोध ९३,१४०.

ख

खअ – क्षय १२४.
खण – क्षण ७,७५,८७,९२.
खत्तिअ – क्षत्रिय ३१.
खयर – खदिर (हि–खैर) १४९.
खल – (तत्सम) ४५,१४८.
खव – क्षप् °इ = क्षपयति ७७, १९३.
खवणअ – क्षपणक ३२.
खंडण – खण्डन १३५.
खंत – खादन् ६३.
खंध – स्कंध १७.
खंधावारिअ – स्कंधावारिक (!) १९१.
खार – क्षार १९९.
खीण – क्षीण १७३.
खोइ – क्षपयित्वा (हि.-खोकर) १९७.
खोह – क्षोभ १४३.

ग

गअ गत ४४ ९१ आदि

गइ — गति ६६,९३ आदि.
गइय — गता ५२.
गउपाविय — गोपायित २१७.
गच्छइ — गच्छति १९४.
गज्जंति — गर्जन्ति १२५.
गणंति — गणयन्ति १५४,१६९.
गण्ण — गणना ७१.
गमणागमण — गमनागमन १३७.
गम्म — गम् (कर्मणि) °इ ९७, २१३; गम्मागम्मइ=गंगम्यते (गमनागमनं क्रियते) ८३.
गय — गत १०,१८ आदि.
गयागय — गत + आगत १११.
गरुव — गुरु + क १३७.
गरुवड — गुरु + क + ट १३१.
गल — (तत्सम) १५०.
गलइ — °ति १०३.
गलंत — गलत १०३.
गलगल — कलकल २०६.
गवंगअ — गो+अङ्गक ९९.
गवेस — गवेषय् °हि ५३; °सु ९४.
गव्विय — गर्वित ८६, १५९.
गहिल — ग्रहिल १४३.
गंग — गंगा १३७.
※**गांगड** — क्षुद्र १८४ (गु. गांगडी)
गंथ — ग्रंथ ८५ १२५
गंथि ग्रंथि १५४
गंध — (तत्सम) १९५.
गाम — ग्राम ७३, १८१.
गामड — ग्राम+ड १८१.
गिलेइ — गृणाति २२०.
गुणसार — (तत्सम) १९.
गुप्पंत — गुप्यमान २१७.
गुरु — (तत्सम) १, २७, ८०.
गोर — गौर २६, ३०.

घ

घर — गृह ९, १३, ११२ आदि.
घरट्ट — (तत्सम) १५६.
घरवइ — गृहपति १२२.
घरवास — गृहवास १२.
※**घल्ल** — क्षिप् °लेप्पिणु=क्षिप्त्वा १७१. (हि. घालना)
घिअ — घृत १२०.
※**घिप्प** — क्षिप् (कर्मणि) °प्पंति क्षिप्यन्ते १५१.

च

च — (तत्सम) ९८.
चअ — त्यज् °एवि—त्यक्त्वा १९८, २०२; °एहि-त्यज १३४.
चउगइ — चतुर्गति १९८.
चउरासी — चतुरशीति २३

*चड – आरुह् °डि-आरुह १०९; °डावउं=आरोहयामि (उपनयामि) ४९; °डाहि-आरोहय १६०; चडिय-आरूढ १७३; °डेविणु–आरुह्य १११.

चम्म – चर्मन् १६२

चर – °इ=चरति ४२; °रि=चर ११२; °रिअ-चरित १६५.

चव – त्यज् °इ = त्यजति ६३; °वेवि = त्यक्त्वा ६६.

चहु – चतुर्णाम् २१९.

चरिय – चरित १७४.

चारु – (तत्सम) १०४.

चिट्ठ – चेष्टा १८.

चित्त – (तत्सम) ४६ ५६ आदि

चिरु – चिरम् २०१.

चिंत – °इ = चिन्तयति ७,६०; °ति=चिन्तय ३२,७४,२००: ° तंत=चिन्तयत् २, ११.

चिंत – चिन्ता ६६,१८२.

चीर – (तत्सम) १०९.

चुय – च्युत २१.

चुंबिय – चुम्बित १५०.

चूर – °रिवि=चूरयित्वा १९८.

चेयण – चेतन २९,११०

°चोप्पडि म्रक्षण १८, °ड– चिक्कण १४७. (म्रक्षेश्चोप्पडः हेम. ४,१९१.)

छ

छत्त – छत्र १३०.

छह – षट् १०१.

*छंड – मुच् °डि मुञ्च १३; मुक्त्वा १०९; °डिवि-मुक्त्वा १६, २०५; °डेविणु-मुक्त्वा ३७, १५१,१८८; °डहु-मुञ्चत ६९ [हि-छोड़ना; मुचः छड्ड – हेम. ४,९१. छर्द से बना. हेम. २,३६].

छिद्द – छिद्र १९५.

*छुडु – यदि ४०,१४९,१५३.

छोड – (देखो छंड) °ड्डि ४२; °डिवि १९५.

*छोप – स्पृश्य १३९ (हि-छूना)

ज

ज – या, जंति=यान्ति ११६,१२४.

जइ – यदि २२,३६, आदि.

जइ – यति ११७.

जग – जगत् ७,३९,४२ आदि,

जत्थ – यत्र २३,८२

जम्म जन्मन् ७२ ९३

जम्मण – जन्मन् ७६,१६४.
जय – [तत्सम] २१५.
जर – जरा ३३,३४. आदि.
जर – जृ °इ=जीर्यति ५४.
जलण – ज्वलन २०.
जलहि – जलधि १६७.
जव ला – यातुम् १०५.
(म. जाय ला; हि. जाने के लिये)
जसु – यस्य २४, ४२, १६०.
जहा – यथा १९५.
जहिं – यत्र ४६, ४८, ८९ (यस्मिन् से बना).
जं – यन् २, ३ आदि.
जंत – यात् ५२, ६२ आदि
जंति – यान्ति (देखो ज) ११६,१२४
जंप – जल्प् °इ जल्पति ६० (कथ् का आदेश, हेम. ४, २.)
जा – या १९ °इं-यानि १८०; जासु-यस्य ५९, ७६, आदि; जाह-यस्य १४; जाहं-येषां १०२; जाहिं-येषाम् १५६, २१७.
जा – या (धातु) °इ-याति ८९,१०९, १६६, १६८, °इयइ-याति १७२, °इसिहि-यास्यसि २०५; °उ-यातु ४८; °इवउ यातव्य १५९ (देखो ज).
जाण – यान १६७.
जाण – ज्ञा °इ – जानाति ४६; °हि – जानासि ९,८५आदि; °हिं – जानन्ति १६५,१२५; °णि – जानीहि १२,२०आदि; °णिज्जइ–ज्ञायताम् १२३; °णेविणु–ज्ञात्वा ६९.
जाण – ज्ञात ५५.
जाणिअ – ज्ञात४१,४४,५८ आदि.
जाणी – ज्ञात १७३.
जाम – यावत् ८, ५६ आदि.
जि – पादपूरक अव्यय २, ११, ३८, ४९, ७४.
जि – ये ८६.
जिअ – जीव १९१.
जिण – जि, °णिज्जइ–जीयताम् १११.
जिण – जिन ३९, ४० आदि.
जिणधम्म – जिनधर्म २०.
जिणवयण – जिनवचन २३.
जिणवर – जिनवर ४, ३९.
जित्थु – यत्र १११.
जिम – यथा ५, ४२, आदि.
जिय – जीव १०, १२ आदि.
जिह – यथा १८

जिं – येन ७१, ९८, १२१.
जीअ – जीव ७२.
जीव – (तत्सम) ११,१७ आदि.
जीवड – जीव+ड (अल्पार्थे) ११८, १७६.
जीवंत – जीवत् १२३.
जीहडिय – जिह्वा ४३.
जीहालु – जिह्वालु १५७.
जु – पादपूरक अव्यय ११५,१८१.
जु – यत् १६१.
जे – ये ४: जेण-येन ५७, ८२, ९९; जेहिं-यैः ९२.
जेत्थु – यत्र २१५.
जेम – यथा २१, ६१, आदि (देखो जिम)
जेहा – यथा १०८.
जो – यः १, १६, ३३ आदि (देखो जे, जु).
जोअ – योग ९१.
*जोअ – दृश् °इ पश्य ५२, १०७, ११४, आदि; पश्यति ९६; जोइउं-द्रष्टुम् १७९; जोइज्जइ-दृश्यताम् २१६; जोयउं-पश्यामि १४०.
जोइ – योगिन् ९.
जोइय – योगिन् ४२, ५३, ६९ आदि.
जोइय – ज्योतिः ९६.
जोगवइ – योगपति (योगिन्) ९६, १८१.
जोणि – योनि ८, २३.
जोय – योग ९६, २०३.
जोयगइ – योग+गति १८९.
*जोयंत – पश्यत् ४७, (देखो जोअ).
जोयाभासि – योगाभ्यास १०९.
*जोव – दृश् °इ-पश्यति ५१, १८० °उं-पश्यामि १३९, १७५; (देखो जोअ).

झ

*झंखाअ – संतापय् °इ संतापयति १३१ (संतपेर्झंखः, हेम. ४, १४०)
झा – ध्यै, °इयइ-ध्यायते, ध्यायताम् ६८, १७२; °य-ध्याय १२९; °यइ-ध्यायति १९३; °यहि ६७, ७१, १९७; °यंत-ध्यायत् ३; °इय-ध्यात १७८.
झाण – ध्यान ६७, ११०.
झाय – ध्यै °हि-ध्यायहि ३७, २०२ (देखो झा)

*झुंपडा – कुटी (अल्पगृह) १०८ (हि. झोंपडा; हेम. ४, ४१६ उदाहरण).

ट

ट्ठिय - स्थित १०२.

ठ

ठा – स्था, °इ-तिष्ठति ८९, १६६, १६८; ठवहि-स्थापय १२४.
ठिय – स्थित ९९, ११०, १८०.

ड

डज्झ – दह् °इ-दह्यते २१४; दग्ध ५१.
*डाल – शाखा १०९ (डाली साहाए दे. ४, ९)
*डुंगर – शैल ११४ (डुंगरो सेले, दे. ४, ११).
डोम – अन्त्यज (तत्सम) ८६.

ढ

*ढंढोलंत – भ्रमत् १५२ (हेम. ४, १६१).
*ढिल्ल – शिथिल ४३ (हि. ढीला)
*ढुरढुल्लिअ – भ्रमित २३.

ण

ण – न २, ८, १०, आदि.
ण उ – न तु ३, २०, २१, आदि.
णउंसअ – नपुंसक ३१.
णग्गत्तण – नग्नत्व १५४.
णचरिसु – न+चरिष्णु ५८.
णट्ठ – नष्ट ९३.
णत्थि – नास्ति २३, ९८ आदि.
णमिअ – नमित १४१.
णर – नर ५, १०२.
णरय – नरक ५, ९३, ११८ आदि.
णव – नम् °इ-नमति ७७, १४६; °ज्जए-नम्यते १४१.
*णवर – केवलम् ९८ (णवर केवले, हेम. २, १८७)
*णवरि – अनन्तरम् १५३ (णवरि आनन्तर्ये, हेम. २, १८८)
ण वि – न+अपि ४, ५ आदि.
णह – नभस् २९.
णं – ननु १७७. (हेम. ४, ३०२ टीका)
णंदणवण – नन्दनवन ४४.
णाइ – न १४९ (अण णाइं नञर्थे, हेम. २, १९०).
*णाई – इव १५८ (हि. नाई हेम. ४, ४४४).

णाण – ज्ञान १४, २४ आदि.
णाणमअ – ज्ञानमय ३७, ३८, ४० आदि.
णाणिय – ज्ञानिन् १४७.
णारि – नारी ४३.
णास – नश् °इ-नश्यति ७५, ९३; °संति-नश्यन्ति १४८.
ण हि – न हि ९४.
*__णिअ__ – दृश् °एहि-पश्यसि १८६; (हेम. ४, १८१).
णिक्कारिम – निष्कर्मन् ५२.
णिग्गुण – निर्गुण १९, १००.
णिचिंत – निश्चिन्त ४६.
णिचिंतिअ – निश्चिन्तित १४४.
णिच्च – नित्य २२, ५७.
णिच्च – नीच २८.
णिच्चल – निश्चल ६.
णिच्चसुह – नित्यसुख ६५.
णिच्चिंत – निश्चिन्त १२१.
णिच्छइ – निश्चयेन ३५.
णिज्जर – निर्जरा २०८.
णिज्जिय – निर्जित २०३.
णिड्डह – निर्+दह् °इ-निर्दहति ८७.
णित्तुल – निस्तुल १९८.
णिप्फंद – निस्पन्द २०३.
णिभंत – निर्भ्रान्त ५४.
णिभंति – निर्भ्रान्ति ७३

णिमिस – °निमिष ७५.
णिम्मल – निर्मल १३, १९ आदि.
णिय – निज ३, ४१ आदि.
*__णियंत__ – पश्यत् १८७ (देखो-णिअ).
णिरत्थ – निरर्थ १८.
णिरंजण – निरञ्जन ३८,६१,आदि.
णिरंतर – निरन्तर ९२, १३३.
णिराम – निराम १८१
णिरामअ – निरामय ५७, १६९ आदि.
*__णिरारिउ__ – नितराम् १२०.
*__णिरुत्त__ – निश्चितम् १२१. (णिच्छिए णिरुत्तं, दे. ४, ३०).
णिलअ – निलय ६७.
णिल्लक्खण – निर्लक्षण ९९,१००.
णिवड – नि+पत् °डंति-निपतन्ति ५.
णिवस – °इ-निवसति ५९, ६६ आदि.
णिवार – नि+वारय् °हि ४३; °रि-निवारय ४३.
णिवारिय – निवारित १९९.
णिवास – निवास १४.
णिव्वाण – निर्वाण ११३, १२३ आदि.

तिहुयण – त्रिभुवन ३९, ५९, आदि.
तिहुयण – त्रिभुवन ५४, १९०, आदि.
तुट्ट – त्रुटित ११०, १५८, २०४.
तुट्ट – त्रुट् °इ-त्रुट्यति १४, १८३; °ट्टेसइ-त्रुटिष्यति १७१.
तुट्ठ – तुष्ट ८५.
तुस – तुष १२, ७४, ८५, १८५.
तुहुं – त्वम् ११, १२, आदि; तुहिं-तुभ्यम् २१९; तुज्झु-तव ११९, तुभ्यम् २०८.
तुहारअ – त्वदीय ५६, १८२. (युष्मदादेरीयस्य डारः, हेम. ४, ४३४).
तूस – तुष् °सि-तुष्य ९३.
ते – ते ४, २१.
तेम – तथा १६६.
तेमइ – तस्मिन् ९१.
तेहा – तथा १०८.
तो – तदा ५१, १४०, २०२. (ततस्तदोस्तो; हेम. ४, ४१७.)
तो – सः ७६.
तोइ – तदापि ११, १७९.
तोड – त्रोटय् °इ=त्रोटयति १५८; °हि-त्रोटयसि १५८, २०९; °हि त्रोटय १६० °वि त्रोटयित्वा १३३; °डेहि-त्रोटयसि १६०.
तोवि – तदापि ३६, १९६.
त्ति – इति ९५.

थ

थक्क – स्थित १०४ (स्थष्ठाथक्क-चिट्ठनिरप्पाः, हेम. ४, १६.)
थडि – स्थली १५१ (म. थड-तट; थंडिल-मंडल, दे. ५, २५).
थलि – स्थली ११२.
थिर – स्थिर १९.
थूल – स्थूल २६, ३०.
थोअ – स्तोक ९८.

द

दड्ढ – दग्ध ५६.
दप्पण – दर्पण १२२.
दब्भ – दर्भ १५९.
दम – (तत्सम) ११३.
दया – (तत्सम) १४७
दरिसाव – दर्शय् °इ १, १२८.
दरिसिय – दर्शित १०५.
दवकाडिय – दावाग्नि + ड + क १०२

ध

धवलत्तण – धवलत्व १४९.
धंध – व्यवसाय ७,९१,११६ (हि-धंधा-रोजगार)
धंधवाल – लज्जावत् १२२ (वयधंधा णरलज्जा, दे. ५,५७.)
धाणुक्क -- धानुष्क १२१.
धारण -- धारणा १०३,२०६.
धुण -- धु °णंति-धुन्वन्ति ८६.
धुत्तिम -- धूर्तिमन् ८०.
धेअ -- ध्येय १०३,२०६.
धोअ -- धावय् ° एसि-धावयसि १६३.
धोय -- धौत १६३.

प

पअ -- पद ३६,१७८,१९० आदि.
पइट्ठ -- प्रविष्ट १५८.
पइसर -- प्रति + सृ °उ-°तु ४८; °इ-°ति १४३; °हि १३४; °हुं-°सर्तुम् १६८.
पइं – त्वम् १७९; त्वाम् १०६; त्वया १०,१११.
पएस -- प्रदेश २३.
पगास -- प्रकाशम् ११२.
पच्छइ -- पश्चात् १७५,२००.
पज्जल -- प्र + ज्वल् °इ १२०, २२०
पड -- पत् °डंसि-पतसि ९१; °डिसइ-पतिष्यति १५५; °डिय-पतित ७,११६,१५६. °डेविणु-पतित्वा २१.
पडिछंद -- प्रतिच्छंद ५२.
पडिपिल्लिअ -- प्रति + प्रेरित १६७.
पडिबिंब -- प्रतिबिम्ब १२२.
पडिय -- पतित ७,११६,१५६.
पडिहास -- प्रतिभास °इ १२२.
पढ -- पठ °हु ९७; °ढियइ पठ्यते ८३; °ढिय-पठित ८७.
पढण -- पठन १४६.
पढिय -- पठित ८७,९७,१५६.
पण्ण -- पर्ण १८४.
पत्तिय – पत्रिका १५८, १५९; १६० (हि. पत्ती.)
पदाण – प्रदान १०५.
पय – पद १७७.
पयट्ट – प्र+वृत् °इ-प्रवर्तते १६७.
पयडण – प्रकटन १७७.
पयाल – प्रजाल ६९, ८४ (धान्यवुस, हि. पियाल)
पर – (तत्सम) ६, २२, ३३ आदि; °रिण ४५; °स्स ४५; °इ-परस्मिन् ८९.
पर – पत् °इ-पतति (भवति) १८२

परम – (तत्सम) ६६.
परमत्थ – परमार्थ ४१, ८५ आदि.
परमप्पअ – परमात्मन् ७७, १९३.
परमाणंद – परमानन्द ५७.
परमेसर – परमेश्वर ४९.
परम्मुह – पराङ्मुख २०.
परलोअ – °क ६, ७६, १६४.
परसुह – °ख २.
परंपर – परम्परा १.
पराइय – परकीय ४३.
परायअ – परायत्त ३७.
परास – पर+आश १५३.
परिखिव – °क्षि °इ-परिक्षीयते९१.
परिचाअ – °त्याग २०२.
परिट्ठिअ – °स्थित ९०, २०४.
परिणव – °णम् °इ-परिणमति १४, ७८.
परिणाम – (तत्सम) ७२, ८२.
परिफुर – °स्फुर् °इ-परिस्फुरति १४२.
परिभम – °भ्रम °इ-परिभ्रमति ८, ८०, १९०.
परिमल – (तत्सम) १५२.
परियण – °जन ९, ११.
परियाण – °ज्ञा, °इ- जानाति १६५
परियाणिय – ज्ञात ७१.
परिवज्जिय – वर्जित ८९.
परिवाडि – °पाटी १७, १०६.
परिहर – हृ, °इ परिहरति १५.
पलंब – प्रलम्ब, शाखा २१.
पलाण – पल्याण ११३.
पलास – पलाश १५२.
पलेवणा – प्रदीपना २१४ (प्रदीपि -दोहदे लः, हेम. १, २२१)
पवण – पवन १६७, २१९, २२०.
पवाण – प्रमाण (प्रकृष्टं मानं यस्य) १६७.
पवेस – प्रवेश ९४.
पव्वइअ – प्रव्रजित ४४.
पसर – प्रसर १८२, १९९.
पसाअ – प्रसाद ८०, ८१.
पसार – प्र+सारय् °रिवि-प्रसार्य १४४.
पसु – पशु १३१.
पसुलोय – पशुलोक १८७.
पसुवाह – पशुवत्र १२७.
पह – पथिन् ७९, १०५, १२३.
पहाण – प्रधान १३७.
पहिय – पथिक ११५.
*पहिल – प्रथम २१९ (हिं. पहला)
पंच – (तत्सम) ४३, ४४ आदि.
पंचेंदिय पञ्च+इन्द्रिय १२३

पंडिअ – पण्डित २७, ३२, ८४, आदि.

पंथ – पथिन् १२८, २१२.

पंथडा – पथिन्+डा १८८.

पंथिय – पथिक ७३.

पाअ – पाप २९, ५९ आदि.

पाअ – पाद ४७.

पाक – पाचय् °हि-पाचयसि ११९.

पाढंत – पठत् १७३.

पाण – प्राण १०८.

पाणिअ – पानीय १३४, १५९ आदि.

पाणिवइ – प्राणिपति १०८.

पाय – पाद १४४.

पायअ – प्राप्त+क १० (हि. पाया)

पायड – प्रकट ८२.

पालि – (तत्सम) १८२.

पाव – प्राप् °इ-प्राप्नोति २४, ६५, आदि; °हि-प्राप्नोषि ११, ३६ आदि; °विज्जइ-प्राप्यते ६; °वियइ-प्राप्यते ८८; °वीसि-प्राप्स्यामि १७७; °वेहि-प्राप्नोषि १९८, पाइ-प्राप्य १३०.

पावपुण्ण पापपुण्य २१२

पावमल – पापमल १६३.

पास – पाश १२.

पाहण – पाषाण १३०, १६१.

पाहुणअ – प्राघूर्णक १९४ (हि. पाहुना)

पि – अपि १०.

पिअ – प्रिय १००.

पिक्ख – प्रेक्ष्, °क्खिवि-प्रेक्ष्य ३२.

पिच्छ–प्रेक्ष्, °इ–प्रक्षते १८०.

पिड्ड–पीड् °ड्डिज्जइ–पीड्यते १४८.

पिंड–पिण्ड १५६.

पिय–प्रिय ४५.

पियंत–पिबत् ६३.

पिल्लि–प्रेर्य २२०.

पुच्छ–प्रच्छ् °इ–पृच्छति १७५, २०७; °हि-°सि ११४; °उ-°मि २१९; °च्छंत–पृच्छत् १६५; °च्छिअ–पृष्ट १६६; °च्छिज्जइ–पृच्छयताम् २०७.

पुज्ज–पूजा ४९.

पुज्ज–पुजय् °इ-°ति १८४.

पुणु–पुनः १६, १७ आदि.

पुण्ण–पुण्य २९, ८७ आदि.

पुत्त–पुत्र ८.

पुत्तिए-पुत्रिके [सम्बोधनार्थक अव्यय, अम्मिए सदृश] १०८

पुत्थ पुस्तक १६१

पुरयण- °जन १३.
पुराइअ-°कृत ७७, १९३.
पुराण -(तत्सम) १२६.
पुरिस - पुरुष ३१.
पुहवि - पृथ्वी २१६.
पूरिअ - पूरित १९५.
पेस - प्रवेश, ७७, १९३.
पेसिय - प्रेषित १७०.
पोख -- पोषय् °इ- °ति २२०
पोत्था - पुस्तक १४६.

फ

फल - (तत्सम) ११५,११९,आदि.
फिट्ट- स्फिट् °इ-स्फिट्यते २: °ईसइ स्फिट्टिष्यति १४९
फिट्टिय -- स्फिट्टित ११५,१७५, २१७.
***फुक्क** -- स्फाय् °क्किज्जंति-स्फाय्यन्ते १५१ (हि-फूंकना)
फुट्ट - स्फुट् °ट्टिवि-स्फुटित्वा १५२.
फुडु -- स्फुटम् १३,१६८,२०८.
फुरंत -- स्फुरत् ६०.
***फुस** -- मृज् °सिवि-मृष्ट्वा १५७ अथवा, भ्रमित्वा (हेम. ४,१०५;१६१.)
फेड -- स्फिट् °इ-स्फिटयति ११७ (देखो फिट्ट)

ब

बद्ध -- (तत्सम) १९०.
बलद्द -- बलीवर्द ४४.
बहिरप्पअ -- बहिर्ज्ञायक (बहिरात्मन्) ८२.
बहुअ - बहु + क २१,८७,९७.
बहुत्त - बहु ८४. (हि-बहुत)
बहुयारअ -- बधकारक १४६.
बहुल - (तत्सम्) १२५,१९४.
बंध -- (तत्सम्) °धिवि-बद्ध्वा २०१;°धिज्जइ-बध्यताम् २१६.
बंधण -- बन्धन ६०.
बंभ -- ब्रह्मन् ३३.
बंभण -- ब्राह्मण ३१.
*°**बारह** - द्वादश २११.
बाल -- (तत्सम) ३२.
बाहिर -- बहिः ४५,६१ आदि.
बुज्झ -- बुध् °इ-बुध्यते ५५, बोधति १२७; °उ-बुध्यताम् ४०; °हु-बोधत ४०: °अंत-बोधत् १२६; °ज्झिय-बुद्ध २२,४० आदि.
बुद्धि -- (तत्सम) १८३.
बुह -- बुध ४२,८४.
बूढअ -यृद्ध + क ३२

बोह -- बोध १६७.
बोहि -- बोधि ८,२५,८१.

भ

भअ – भय ३३, १०४.
भग्ग – भग्न २१, १०४, १८५, आदि.
भग्ग – भञ्ज् °इ भनक्ति ४७.
भज – भञ्ज्, °जेसहिं-भंक्ष्यन्ति ८३.
भज्ज – भञ्ज्, ° भनक्तु ४७.
भडारअ – भट्टारक ६३.
भण – (तत्सम) °इ-°ति ४०, ४१ आदि; °णंति ४; °णिवि -भणित्वा १३९; °णेहि भणासि २५, ३६.
भम - भ्रम् °हि- भ्रमसि १८७; °मंत-भ्रमत् ५८, १६२, २१६; °मंति-भ्रमन्ति २१७; °मिय-भ्रमित १५६; °मेइ- भ्रमति १६, १७९ आदि; °मेहि- भ्रमसि ३६, १६३, १८६.
भल्ल – भद्र १४८, २०० (हि. भला)
भव – (तत्सम) ११२, २१०.
भंज – (तत्सम) °जेविणु-भंक्त्वा १७४; °जेसइ-भंक्ष्यति१५५- °जंत-भज्यमान १४४ (देखो भज, भज्ज).
भंतडी – भ्रान्ति १६९, १७५.
भंति – भ्रान्ति ११६, १२६ आदि.
भाअ – भाव ५, १५ आदि.
भाय – (तत्सम) ११०.
भाव – भावय् °इ °ति ३८; भाति ४८, १०४, १०५; °हि- भावय २०९; °विवि-भाव- यित्वा २११.
भावडा – भाव+डा २५, ३६.
भासिअ – भाषित २०८, २०९.
भिक्ख – भिक्षा १८६.
भिच्च – भृत्य २८.
भिण्ण – भिन्न १०७, १२८, १२९.
भिण्णाय – भिन्ना १२७.
भियमडा – (?) ऊंट का कोई साज ११३.
भितर – अभ्यन्तर १५४.
*__भुल्ल__ – भ्रष्ट (भ्रान्त) १७ (हेम. ४, १७७; हि. भूला)
भुवणयल – भुवनतल १०१,११२.
भुंजंत – भुज्जमान ५.
भूव – भूत १०४.
भेअ – भेद १, ३९, ५३ आदि.
*__भेडिआ__ वृक १ ७ (हि भेडिया)

भोय – भोग १५.
भोयण – भोजन २१५.

म

म–मा ९, १७, २६, ३२, आदि. (हि. मत)
मअ – मद १३८.
मइ – मति १०३.
मइल – मलिन १९ (हि मैल)
मइलअ – मलिन + क १६३.
मइलिय – मलिन ६१.
मउलिय – मुकुलित ११५.
मज्झ – मध्य २३, १४१ आदि.
मज्झण – मध्याह्न १८२.
मढ – मठ १३१.
मण – मनस् ६, १४ आदि.
मण–मन् °णिग-मन्यस्व २६
मणुब्भव – मनस् + उद्भव २१०.
मत्थअ – मस्तक ७० (हि. माथा)
मर – मृ °इ-म्रियते १४, ५४.
मरगअ – मरकत ७१.
***मरट्ट** – मर्यादा, गर्व १५६ (हेम. ४, ४२२ उदाहरण)
मरण – (तत्सम) २३,७६ आदि.
मरणक्खय – °क्षय ९८.
मल – (तत्सम) ६१, ८९ आदि.
मसि – मषि १७३.
मइं – मया २०८; मज्झु–मम ११९; महु–मम ९९, १८६ आदि; महु–मह्यम् १८२.
महंत – महत् ११, ९०.
महापुरि – °री ४८, १३४.
महिल – महिला, °लाण–°नाम् १५६.
महुयर – मधुकर १५२.
महुर – मधुर २००.
महेली – महिला, महेलिका ६४ (महेला, हेम. १, १४६ टीका)
मं – मा १३, १४३.
मंजरि – (तत्सम) १५२.
मंडिय – मण्डित १२.
मंत – मंत्र ६२,२०६.
मा – (तत्सम) १२,२३,४८.
माण – मान १५६.
माणिक्कडा – माणिक्य + डा २१६.
माणुस – मानुष ९२.
मायाजाल – (तत्सम) ६९.
***माहु** – (?) लाक्षारस ९९ (हि·माहुर)
मि – पि (अपि, अनुस्वार के पश्चात्) २६,५५,१०२.
मिच्छादिट्ठि – मिथ्यादृष्टि ७०.
मित्त – मित्र २४.७४,आदि.

मित्थत्तिय – मिथ्यात्विन् २०.
मिलिअ – मिलित ४५,४९ आदि.
*__मिल्ल__ – मुंच् °हु-मुञ्चत ४८;
°ल्लिवि-मुक्त्वा २९,३७आदि;
°ल्लिय-मुक्त; °ल्लि-मुञ्च १७१;
(हि-मेलना).
मुअ – मुच् °एइ-मुञ्चति १५;
°यंति-मुञ्चन्ति १५४,
मुक्क – मुक्त १५,११०,२०३,
मुक्किय – मुक्ता, वाराङ्गना १५०;
मुक्ख – मोक्ष १०.
मुक्ख – मूर्ख २७.
मुच्च – मुच् °हि-मुच्यसे ६१; मुञ्च
९२.
*__मुट्टा__ – (?) स्थूल १३१
(हि-मोटा).
मुट्ठि – मुष्टि १५७.
मुण – (तत्सम्) °हि १२९;
°णेइ मुणाति ७८; °णेहि-मुण
२५,३३,८१; °णंति ८०,
८६; °णंत-मुणत् २४;
°णिअ-मुणित १४१.
मुणि – मुनि १६,२४ आदि.
मुणिअ – मुणित १४१.
मुत्त – सूत्र १९५,१९६.
मुय – मृत १५२.
मुयअ – मृत + क १२३.
मुंड – मुण्ड १५३.
मुंडण – मुण्डन १३५.
मुंडाइवि – मुण्डयित्वा १५३.
मुंडिअ – मुण्डित १३५.
मूढ – मूर्ख १३, ५२, ८५.
मूल – (तत्सम) १०९.
मूलगुण – (तत्सम) २१.
मूलट्ठिअ – मूल + स्थित १४६.
मेलय – मेलक १८४, १८५.
मेलयअ – मेलापक ९५.
मेलावडा – मेलापक १२७.
*__मेलिय__ – मुक्त १५३ (देखो मिल्ल)
मेलियइ – मलिनायते २१५.
मेलवइ – मोचयति ४६ (देखो
मिल्ल)
मो – मह्यम् १२२.
मोक्कलअ – मुक्त + क ४८, ५९,
१२३.
मोक्ख – मोक्ष, ७, ११ आदि.
मोड – मुट् °डिवि-मोटयित्वा ९५
(हि. मोड़ना)
मोह – (तत्सम) १०, १४, ५८
आदि.
मोहिय – मोहित ८, ५८, ८१
आदि.

य

य – च १०.

र

रइ – रति १३, ४२, ९२.
रक्खिअ – रक्षित ४४.
रज्ज – रञ्ज् °ज्जियइ-रज्यताम् १०७.
रज्जु – (तत्सम) २२०.
रत्त – रक्त २१७.
रम – °मंति-रमन्ते ७०; °रमंत-रममाण ३; °मिय-मित १९६.
रयण – रत्न १५१.
रवि – (तत्सम) २१९.
रस – (तत्सम) १०१.
रस – रस् °सिवि-रसयित्वा १५२.
रह – रक्ष् °हंत-रक्षत् १९१. (हि. रहना).
रहिअ – रहित ८४.
रहिय – रक्षित (रहा) ४९.
रंज – °जिज्जइ-रज्यते ६.
रंजिअ,°य – रक्त १०१, १३२, २०१.
राम – रामा (स्त्री) ४२.
रामसीह – °सिंह (ग्रंथकर्ता) २११.
राय – राग १०१, १३२, २०४.
रिसह – ऋषभ (तीर्थंकर) ६३.
रिसि – ऋषि २१०.
°रीण – (तत्सम) रि+क्त-आगत (श्रान्त) ११५.
रुच्च – रुच्, °इ-रोचते २०६.
रूव – रूप १०१, १३२.
रूस – रुष् °सि-रुष्य ९३.
रोय – रोग ३४.
रोस – रोष २०४.

ल

लअ – लय १६९.
*लइ – शीघ्र १११ (सम्भवतः लात्वा से)
लइय – लात, °इण=लातेन ९१ (हि लेने से)
लक्ख – लक्ष ८, २३.
लक्ख – लक्ष्य १११, १८८.
लक्खिअ – लक्षित ५६.
लग्ग – लग्न ४५, १८५.
लग्ग – लग् °इ-लगति ५९, ९०; °ग्गु-लग (लोट्) १०५. (हि. लगना)
लद्ध – लब्ध १२३, २१६.
*लहि – लालसा, स्पृहा १७४. (लहे सचिपह-णूणेसु दे. ७, २६).
लह – लभ् °इ-लभते ३; °हिं-लभन्ते ४; °हंति १६४; °हि-लभ-

स्व १३३; °हेहि-लभसे ८१; °हंत-लभमान ८; °हिवि-लब्धुम् १७९.

लहु – लघु (शीघ्र) ४, १३, १३३, १९६.

ला – ला, लेइ-लाति २२०; लाए-विणु-लात्वा १५०; लएइ-लात्वा १९४; लाइअ-लात ११५; (हि. लेना).

लिह – लिख्, °हि-लिख १४४; °हिहि-लिख १५७; °हिअ-लिखित १६६.

लिंग – (तत्सम) ३४, ३५.

लिंगग्गहण – लिंग + ग्रहण १५.

लीण – लीन १७३.

लीह – रेखा ८३.

लुद्धअ – लुब्धक १४६.

लुंचण – लुञ्चन १६.

लेअ – लेप ९०.

लोअ, °य – लोक ६,९६,१८०, १९५.

लोण – लवण १७६.

लोयण – लोचन २०२.

लोह – लोभ ८१.

लोह – (तत्सम) १४८.

व

वइरि वैरिन् ११७

वइस – वैश्य ३१.

वइसाणर – वैश्वानर १४८.

वक्खाणडा – व्याख्यान+डा ८४.

वट्ट – पत्र, वर्त्मन् ११५.

वट्टडिय – वर्त्मन् + डी ४७,११४. (हि. बाट-मार्ग).

*वड – उक्त, °डिण-उक्तेन १४५.

*वडवड – विलापार्थे ध्वनिसूचक धातु, °इ = प्रलपति ६. (विलपेर्झंखवडवडौ, हेम, ४,१४८.)

*वढ – मूर्ख (कोमलामंत्रणे) २,२२,६४ आदि.(सम्भवतः वटु से; म. वेडा).

वण – वन १८७.

वण्ण – वर्ण ३०,३४,३५,३८.

वण्णर – वानर २१.

वण्णि – वर्णिन् २६.

वत्थु – वस्तु १६१.

वद्ध – वृद्ध १५२.

*वप्पुडअ – वराक ५ (पुरानी हि. बापुरो).

वम्म – वर्मन् १५७.

वय – व्रत ११३.

वयण – वचन २३.

*वयल – कलकल १३२. (वियसंत कलयलेसुं वयलो, दे. ७,८४)

वर – (तत्सम) २०,३१.
वराअ – वराक ५६.
वल – °लिवि-वलित्वा ५१.
वलि – बलि १८९,१९२.
ववसाअ – व्यवसाय २०२, २०५.
ववहार – व्यवहार ६८.
वस – वश १०, ९६.
वस – वस् °इ-ति ५३, ९४; °संति ७३; °संत-वसत् ४१, १००, आदि; °सावइ-वासयति १८१; °सिय-उषित १९२.
वह – °इ-वहति १८१; °हाइ-वाहयति १३०; वाहि-वाहय १७, १६०.
वह – वध १०५.
वंच – °उं-वञ्चयामि १३९.
वंद – °उ-वन्दत ४१;°हु-वन्दध्वम् ४१.
वंदअ – वन्दक (?) ३२.
वंस – वंश ८६.
वाड – वर्त्मन्, या पाटक १०६, १३०.
वादविवाद – (तत्सम) २१७.
वामिय – वामीकृत १८१.
वार – °उं-वारयामि ११८; °रि-वारय १५५, १७०
वारणहं – वारितुम् १८९.
वाल – बाल (रोमन्) ९४.
वावर – व्याप्र °इ-व्याप्रियते ५५.
वावार – व्यापार २०३, २०४.
वास – (तत्सम) १२, २०, आदि.
वाहि – वाहय (देखो वह) १७, १६०.
वाहि – व्याधि २१०.
वि – पि (अपि) ३, १० आदि. (हि. भी.)
विग्गुत्त – विगुप्त (सचेल) १५४
*विच्च – वर्त्मन् १८८. (हि. बीच-मध्य)
विचित्त – विचित्र ३४.
विचित्त – °हि-विचिन्तयसि ११.
*विड्डाविड – रचित (कल्पित) १९९. (' रचेरुग्गहावह-विड्डविड्डाः ' हेम. ४, ९४.)
*विढप्प – अर्ज् इ-अर्ज्यते (वर्धते) १९; (अर्जेविढप्पः, हेम.४, २५१.
*विणड – त्यज् °इ-त्यजति ;१९६ (णड=गुप् हेम. ४, १५० गुप्येर्विरणडौ. सम्भवतः वि+नट् से बना है। यहां प्रसंग में त्यज् का अर्थ अधिक उपयुक्त होता है)

विणास -- °इ-विनाशयति ७५.
विणास -- विनाश २१९.
विणिम्मिय -- विनिर्मित २५, ११७.
विणु -- विना ५५.
विण्णि -- द्वि ४३,४९,२१३.
वित्थर -- विस्तार २०७.
विद्ध -- (तत्सम) १५७.
विपिल्लिअ -- विप्रेरित १६७.
विप्फुर -- वि + स्फुर् °इ °ति २४,६५.
विबोह -- विबोध ८२,१६७.
विभाविय -- °त ७५.
विभिण्ण -- विभिन्न २६,४०.
विभासिय -- विभिभिन्न ६७.
वियप्प -- विकल्प ६५,११०, १४२.
वियप्पडा -- विकल्प + डा १२३.
वियप्पिअ -- विकल्पित ५६.
वियाण -- वि+ज्ञा, °णु-विजानीहि ७९.
वियाल -- विकाल (विगतकाल, अन्त) १८२.
विरल -- (तत्सम) १०३,१२७.
विरोलिय -- विलोडित १४७. (मन्थेर्घुसल-विरोलौ, हेम. ४,१२१.
विलिज्ज -- °इ-विलीयते १४, १७६
विल्लडिय -- वल्लि + का ११२.
विल्लि -- वल्ली १७४ (देखो वेल्लि).
विवज्जिअ -- विवर्जित २५,७२, ७६ आदि.
विवरिअ -- विपरीत २५.
विवरेर -- विपरीत १२५,१२९.
विविह -- विविध १६८.
विस -- विष १५,२०.
विसज्जण -- विसर्जन १३६.
विसम -- विषम ११२,१८९.
विसय -- विषय ३,४ आदि.
विसहर -- विषधर २०.
विसाय -- विषाद ४८.
विसेस -- विशेष २०,३१,२०७.
विहुअ -- विभव १३८.
विहडिय -- विघटित ७२,१८७.
विहत्थ -- विहस्त, विहीन (?) ८६.
विहाण -- विधान १५१.
विहीण -- विहीन ५५,१४७.
विहूण -- विहीन २८.
विंझ -- विन्ध्य (पर्वत) १५५.
वीसमिय -- विश्रामित ११५.
वीसारिज्ज -- °इ-विस्मार्यते ५०.
वीहअ -- विभीत ७४.
वुब्ब -- व्रज् °इ-व्रजति १६८.
वुणणहं -- वातुम् १०८ (हि बुनना)

वे -- द्वे १०५,१७४,१८८ आदि.
वेमुह -- द्विमुख २१३.
वेय --विद् °इ-वेत्ति १६५.
वेय -- वेद १२६.
वेयण -- वेदना ७४.
वेल्लि -- वल्ली १७१ (हि. वेल).

स

सइं -- स्वयम् ७३,१७०.
सक्किय -- संस्कृत १४९.
सग्ग -- स्वर्ग १०५.
सगुणी -- (तत्सम) १००.
सच्च -- सत्य ७९.
सड्डुच्छलइ -- (?) १५७.
सण्ण -- सद् + क्त ३५.
सण्णाण -- सद् + ज्ञान १३७.
सत्त -- सप्त २२०.
सत्ताव -- °इ,संतापयति ६४.
सत्ति -- शक्ति ५३,५५, आदि.
सत्तिसिअ -- शक्ति + शिव ५३.
सत्थ -- शास्त्र २४,१९९.
सद्द -- शब्द १६८.
सप्प -- सर्प १५.
सब्भाअ -- सद्भाव ३८,२०४.
सम -- शम ११३.
सम -- सम २१५.
समत्त -- २१५.
समरसि -- समरसिन् ४९,६४, १७६.
समाण -- समान १२३.
समाहि -- समाधि १३९, १७६, २१०.
सामित्ति -- संतृप्ति १६५.
समुद्द -- समुद्र, समुद्र (समान +मुद्रा) १५०.
सम्माण -- °उं-सम्मानयामि १३९.
सयल -- सकल ७, १३ आदि.
सयलीकरण -- सकली° १८४.
सरिजल -- सरित्°१६७.
सरीर -- शरीर १०२.
सरूव -- स्वरूप १४२.
सलिल -- (तत्सम) १४७.
सल्लडा -- शल्य + डा ७४.
सव -- सर्व ८९, १०३.
सवण्ण -- स्वर्ण; सवर्ण ३०, १५९.
सव्व -- सर्व २७, ३२,६५ आदि.
सव्वंग -- सर्वांग १३६.
सव्वंगअ -- सर्वांग+क ५०.
ससि -- शशिन् २१९, २२०.
सह -- °इ-सहते १६; °हंत-सहमान ८; °हेइ-°हते ११८.
सहज -- (तत्सम) १७०.
सहस त्ति -- सहसा + इति ९५.
सहाअ°व -- स्वभाव २२, ३७, आदि

सहि – सखि ४५, १२२ आदि.
सहिय – सहित ५२.
सहु – सह २०, १४८.
संकप्प – संकल्प ५६, १४२.
संग – (तत्सम) १०२, १४८.
संगहिअ – संगृहीत ८४.
संख – शंख १४९, १५१, १५७.
संघट्ट – °इ-संघट्टति १६७.
संचर – °इ-संचरति ८९; °उ -°तु १०४.
संजम – संयम ११३.
संठिय – संस्थित ९९.
संत – सत् ३८, ९४, १२४.
संतावि – संतापिन् १३०.
संताव – °विज्जइ-संताप्यते १७८, १९५,२१४.
संतोस -- संतोष २.
संदेह -- सन्देह १२,२०३.
संधाण -- सन्धान १२१.
संधिय -- संहित १२१.
संभव – °इ-°ति ५४.
संवर -- (तत्सम) २०७.
संसार -- (तत्सम) १६,३६, आदि.
संहारि -- संहारिन् १७०.
सामल -- श्यामल २६,३०.
सामिअ--स्वामिन् २८,५४,१८३.
सार -- (तत्सम) ६८,२०९.
सालिसित्थ -- शालिशिक्थ,नाम, ५ (देखो टिप्पणी).
सावय -- श्रावक ९६.
सास -- श्वास १४,२०३.
सासय -- शाश्वत ४,६३.
साहिक – साधक, या सहायक १२०.
सि -- असि ४४,८५,१४१.
सिअ – शिव ३८,५०,१६०.
सिक्ख -- शिक्षा १५३.
सिक्ख -- °वमि-शिक्षयामि १०६; °विख-शिक्षय ८४; °क्खियव्व-शिक्षितव्य ९८.
सिग्घ -- शीघ्र ५३.
सिज्ज -- °ए-सीव्यते २१३.
सिट्ठ -- शिष्ट ९.
सिद्ध -- (तत्सम) १२६,२१५.
सिद्धत्तण – °त्व ८८.
सिद्धंत – सिद्धान्त १२६.
सिद्धि – (तत्सम) ४८,१३४, १४३.
सिर – शिरस् १३५.
सिव – शिव ५५,१२७.
सिवतत्त – शिव + तत्त्व १२१.
सिवदेअ – शिव + देव ५४.
सिवपअ – शिव + पद १३.
सिवपुरि – शिवपुरी ९७,२११.
***सिवि** – शुक्ति १५७,(हि-सीप).

सिस्सिणी – शिष्यानी १७४.
सिह – सह १२७.
सिहु – सह ६४,११०,१६८.
सिंग – शृंग ७०.
सीलवण – शील + वन १५६.
सीस – शिष्य २७.
सीस – शीर्ष १७७.
सु – सः ६८.
सुअ – सुप्त १८२.
सुइ – श्रुति ९८,१०३.
सुक्क – °इ-शुष्यति ९७.
सुक्ख – सुख १०,११,२४, आदि.
सुक्खअडा – सुख + क + डा. १०६.
सुक्खडा – सुख + डा १८९.
सुगुरुवडा – सु + गुरु + क + डा १२०.
सुघण – सु + घन १४८.
सुणह – श्वन् १९५.
सुण्ण – शून्य १३१,२१२, आदि.
सुद्ध – शुद्ध ६,२७,१६२.
सुपसिद्ध – सुप्रसिद्ध २०८.
सुमर – °हिं-स्मरन्ति १०३.
सुमिट्ठ – सुमिष्ट १८.
सुम्म – °इ-श्रूयते १८८.
सुरतरु – (तत्सम) १५२.
सुवेय – °इ-सु + वेत्ति १६५.
सुव्व – °इ-स्वपिति २०६.
सुह – सुख २,३,४ आदि.
सुह – शुभ ७२,१४२.
संधुक्की – संधुक्षित, प्रदीप्त ८७. (सन्धुक्ष-प्रदीप्, हेम ४, १५२.)
सूई – सूची २१३.
सूर – शूर २८,३२.
सूर – सूर्य ७५.
सेव – °इ-सेवते १९४; °वाइ-सेव्यते १३१; °हि-सेवसे १२०, २०५; °यंत-सेवमान २००.
सेवड – श्वेताम्बर ३२.
सेविअ – सेवित २०.
सेस – शेष (अहि) ३१.
सो – सः १६,२३ आदि; तत् ४६,१६०.
सोड – सोडपि ११०,१७५.
सोक्ख – सौख्य ६३,१३३,२१२.
सोव – °वइ-स्वपिति ४६; °उ-स्वपितु १४४.
सोस – शोष २.
सोसण – शोषण १६.

ह

हउं – अहम् २६,३१,३२,५१, १७४.

हण – °णंत-घ्नत् ६५; °णेवि-हत्वा ६६,१७२.

हत्थ – हस्त ९४,११५,१५० आदि.

हत्थडा – हस्त + डा ८६.

हत्थिय – हस्तिन् १५५.

हयास – हताश १५२.

हर – °रेप्पिणु हृत्वा २१५.

हरिण – (तत्सम) १४६.

हरिस – हर्ष ४८.

हल °लि – सम्बोधनार्थक अव्यय ४१,४५,१२२,१३६,१३९.

*हलोल – हिलोल २२० (हि-हिलोर).

हंहिंडिय – हंहिण्डित (भ्रशार्थे) १७९.

हास – (तत्सम) १८६.

हि – (तत्सम) अव्यय १६७.

हिमकरण – हिमकिरण (चन्द्र) १.

हियअ – हृदय २,४,१४२.

हियडा – हृदय + डा ५,५९, ७६ आदि.

हु – °इ-भूत्वा ४९; हुंति-भवन्ति २१३.

हुयवह – हुतवह १४९.

हुववह – हुतवह १२०.

हू – °वइ-भवति १७६; °व-भूत १६२ (देखो हु).

हेउ – हेतु २४,६०.

हो – °इ-भवति ४६, ५१ आदि. °उ-भवतु १३८; होंति-भवन्ति ७०,२००; °सइ भविष्यति १६१, १७०; °सहिं-भविष्यन्ति ११९; °हि-भवसि २९,भव ४३.

टिप्पणी

३. ' देविहिं कोडि ' का " करोड़ों देवियों के साथ " अर्थ करने में ' कोडि ' शब्द में तृतीया विभक्ति का लोप मानना पड़ेगा, अर्थात् कोडि यहां कोडिहिं (कोटिभिः) के बराबर है। कोटि को सप्तम्यन्त मानकर ' देवियों की कोटि में ' अर्थ भी सम्भव है।

९. ' सालिसित्थ ' का उल्लेख कुन्दकुन्दाचार्यकृत ' भाव पाहुड ' की निम्न गाथा में आया है—

मच्छो वि सालिसित्थो असुद्धभावो गओ महाणरयं।
इय णाउं अप्पाणं भावह जिणभावणं णिच्चं ॥ ८८ ॥

अर्थात् ' सालिसित्थ मच्छ भी अशुद्ध भाव के कारण महानरक को गया। ऐसा जानकर जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट रीति से अपने आत्मा की भावना कर '।

इस गाथा पर श्रुतसागरजी ने अपनी टीका में शालिसिक्थ की यह कथा दी है। पुष्पदन्त तीर्थंकर की जन्मभूमि काकन्दीपुरी में सौरसेन नाम का राजा था। उसने श्रावक के व्रत लिये थे और मांसभोजन का त्याग किया था, किन्तु एक वेदानुयायी रुद्रदत्त की संगति से उसकी मांस-भोजन की इच्छा हुई। व्रतभङ्ग और

लोकापवाद के डर से वह प्रकटरूप से मांस न खा सका। अतएव उसने अपने एक कर्मप्रिय नामक रसोइये को गुप्तरूप से मांस पकाने के लिये कहा। रसोइया प्रतिदिन नानाप्रकार के जीवों का मांस पकाता किन्तु किसी न किसी अड़चन के कारण राजा उसे खा न पाता। कर्मप्रिय को एक दिन सांप ने डस लिया जिससे मरकर वह स्वयंभूरमण समुद्र में महामत्स्य हुआ। राजा मांसभोजन की इच्छा को तृप्त न कर पाया किन्तु लोलुपता के कारण मरकर उसी महामत्स्य के कान में शालि अर्थात् तंदुल के आकार का कीड़ा हुआ। वह उस महामत्स्य के मुख में अनेक जलचर जन्तुओं को प्रवेश करते हुए और पुनः बाहर आते हुए देखकर अपने मन में कहता 'अहो, यह मत्स्य बड़ा मूर्ख और अभागी है जो अपने मुँह में आये हुए जन्तुओं को भी छोड़ देता है। यदि मैं इतना बड़ा मुँह पाता तो सारे समुद्र को जीवरहित कर डालता'। इस प्रकार मांस खाने की शक्ति न होते हुए भी कुभावना के कारण शालिसिक्थ मर कर सप्तम नरक को गया।

दोहा ४ और ५ का भगवद्गीता के निम्न श्लोकों से मिलान कीजिये—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

[अध्याय ३.]

११. इस दोहे की दूसरी पंक्ति परमात्मप्रकाश २५४ में इस प्रकार है—

तो घरि चिंतहि तउ जि तउ पावहि मोक्खु महंतु ।

इसका हिन्दी अनुवाद किया गया है 'इस कारण तूँ तप की चिन्ता कर जिससे महान् मोक्ष की प्राप्ति हो'।

१९. यह गाथा 'उक्तं च' रूप से श्रुतसागर ने भावप्राभृत की १०८ वीं गाथा की टीका में उद्धृत की है।

२१. पांच महाव्रत (अहिंसा, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रह), पांच समिति (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण व प्रतिष्ठापना), पंचेन्द्रिय-निग्रह, छह आवश्यक (सामायिक, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान व कायोत्सर्ग), और सात अन्य गुण (केशलौंच, अचेलत्व, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन व एकभक्त), ये अट्ठाइस साधनायें जैन मुनियों के मूलगुण कहलाते हैं। इनका विवरण स्वामी वट्टकेर कृत मूलाचार के प्रथम अध्याय में देखिये।

उत्तरगुणों की संख्या चौरासी लाख कही गई है। परिचय के लिये मूलाचार का ग्यारहवाँ अध्याय देखिये।

इसी भाव के लिये देखो दोहा १०९.

२३. यह गाथा कुन्दकुन्दाचार्य कृत भावप्राभृत में निम्न रूप में पाई जाती है—

सो णत्थि तं पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि।
भावविरओ वि सवणो जत्थ ण डुरुडुल्लिओ जीव
(जीवो) ॥४७॥

३२. खवणअ से क्षपणक अर्थात् दिगम्बर और सेवड से श्वेताम्बर का अभिप्राय है। देवसेन ने अपने दर्शनसार तथा भावसंग्रह दो ग्रंथों में सेवडसंघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्न गाथा लिखी है:—

छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो॥

दर्शन०. ११; भाव० ५२.

अर्थात् विक्रमादित्य की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् सौराष्ट्र देश के वल्लभीपुर में श्वेताम्बर संघ उत्पन्न हुआ।

यह दोहा परमात्मप्रकाश ८३ में भी पाया जाता है। वहां संस्कृत टीका में वंदक का अर्थ बौद्ध किया गया है।

प्रथम दिया हुआ अर्थ ही अधिक उचित है यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से द्वितीय अर्थ अधिक अच्छा है क्योंकि प्रथम अर्थ में 'उपलाणहि' का उत्पलानि और 'छोडहि' का मोचयति रूपान्तर शंका के परे नहीं है।

५५. शिव और शक्ति को ही सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति, वेदान्त में ब्रह्म और माया तथा जैन सिद्धान्त में जीव और अजीव कहा है।

५६. वेदान्त में चित्त या मन की परिभाषा यह पाई जाती है—'संकल्पविकल्पात्मिका वृत्ति मनः' अर्थात् संकल्प विकल्प रूप वृत्ति का ही नाम मन है जिसका मूल अज्ञान है। जब जीव पूर्णतः ध्यानमय या समाधिस्थ हो जाता है तब यह संकल्प विकल्प रूप वृत्ति नष्ट हो जाती है अर्थात् मन का लय हो जाता है।

५७. आत्मा के निर्मल होने से जो सर्वज्ञता का उदय होता है उसे ही जैन सिद्धान्त में केवल ज्ञान कहा है।

६३. रिसह=ऋषभ जैनियों के प्रथम तीर्थंकर हुए हैं जिन्होंने इस युग में ऋषिधर्म चलाया।

६५. 'सयलइं धम्म कहंतु' का 'सब धर्मों का व्याख्यान करता हुआ' यह अर्थ भी हो सकता है। इस अर्थ में धर्म से बाह्य सत्क्रियाओं का अभिप्राय है। अर्थात् जो व्यक्ति

बाहरी आचार-विचार का पूरा पंडित और उपदेशक है उसके मन में यदि आत्मा के सच्चे स्वरूप की भावना उत्पन्न नही हुई तो वह भी मोक्ष नही पा सकता।

६६. जीव के रागद्वेषादि परिणामों से जो जीव और कर्म-परमाणुओं का बन्ध होता है उसे कर्म कहतें हैं। कर्म का स्वभाव आत्मा के गुणों को दबाने या ढक लेने का है। वह आठ प्रकार का माना गया है— ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन्ही आठ बंधों के प्रभाव से जीव को संसार की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का अनुभव होता है।

६८. जैनधर्म में वस्तुओं के स्वरूप को समझने तथा वर्णन करने के दो दृष्टि-कोण हैं जिन्हे नय कहते हैं एकनिश्चय नय और दूसरा व्यवहार नय। निश्चय नय में वस्तु के असली, अमिट स्वरूप का ही विचार किया जाता है, तथा व्यवहार में उसके क्षेत्रकालादि परिस्थिति पर ध्यान देकर विचार किया जाता है। प्रस्तुत दोहे का तात्पर्य यह है कि आत्मा का असली स्वरूप, निश्चय नय से तो चैतन्य अर्थात् देखना और जानना (दर्शन और ज्ञान) है, किन्तु व्यवहार में इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का व्यापार भी आत्मा का रूप माना जाता है। दोहे की दूसरी पंक्ति में योगियों को निश्चय नय से आत्मा को पहचाने तथा अगले दोहे में व्यवहार दृष्टि को छोड़ने का उपदेश दिया गया है। देखो भावपाहुड की निम्न गाथा—

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥५९॥

७४. दोहे का सारांश यह है कि जिस प्रकार अणुमात्र कांटा भी यदि शरीर में चुभ जावे तो पीड़ा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार अणुमात्र भी परभाव जब तक आत्मा में बना हुआ है तब तक उसे सच्चा सुख अर्थात् मोक्ष नहीं मिल सकता । देखो बोधपाहुड—

तिलतुसमत्तणिमित्तं समबाहिरगंथसंगहो णत्थि ।
पव्वज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरिसीहिं ॥ ५५ ॥

७७. यह दोहा थोड़े से परिवर्तन के साथ पुन नं. १९३ पर पाया जाता है ।

८६. दोहे का भावार्थ पूर्णतः स्पष्ट नहीं है । तात्पर्य यह समझ पड़ता है कि जिस प्रकार वंश अर्थात् उच्च वंश की प्राप्ति न होने से डोम दूसरों के हाथ जोड़ते हैं, अर्थात् पराधीन रहते हैं उसी प्रकार जो शब्दाडम्बर का ही अभिमान करके सच्चे ज्ञान की प्राप्ति नहीं करते वे मुक्त नहीं हो पाते, अर्थात् संसार में ही भ्रमण करते हैं ।

८७. जैसे अग्नि का कण प्रज्वलित होकर वन के हरे व सूखे सभी झाड़ों को भस्म कर डालता है उसी प्रकार एक आत्म-ज्ञान, पूर्णता को प्राप्त होने पर, समस्त पुण्य और पाप का नाश करके मुक्ति का मार्ग साफ कर देता है । ऊपर दोहा ७२ में

कह आये हैं कि पुण्य और पाप क्रमशः सुख और दुःख के कारण हैं। मुक्ति दोनों के नाश होने से ही मिल सकती है।

९४. इस दोहे का अर्थ कुछ अस्पष्ट है। अधिक अच्छे अर्थ के अभाव में मैंने ऐसा अर्थ लगाया है। हाथ अर्थात् भुजा—मूल से नीचे जो हृदय—स्थान है वही आत्मदेव का मंदिर है। वह ऐसा सुरक्षित है कि वहां बाल का भी प्रवेश नही हो सकता। वहीं अर्थात् अपने गूढ हृदय में ही उस सच्चिदानन्द को ढूँढना चाहिये।

९५. इस दोहे का परमात्मप्रकाश में कुछ भिन्न पाठ पाया जाता है—

अप्पापरहं ण मेलयउ मणु मारिवि सहसत्ति।
सो वढ जोएं किं करइ जासु ण एही सत्ति ॥२८८॥

प्रस्तुत दोहे का निम्न उपनिषद् वाक्य से मिलान कीजिये;

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो
न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वां
स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥

मण्डूक, ३, ४.

९६. प्रथम पंक्ति का संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार लिया गया है 'स योगी यत् योगपतिः निर्मलं ज्योतिः पश्येत्'। निर्मल ज्योति से तात्पर्य शुद्ध आत्मा का है।

९७. यहां एक अक्षर से तात्पर्य सम्भवतः ॐ से है जो ब्रह्म, परमात्म या सोऽहं का भाववाचक है।

९८. इस दोहे का निम्न श्लोक से मिलान कीजिये—

अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्
स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥

९९. निर्लक्षण, स्त्रीबाह्य और अकुलीन, कुत्सित नायक तथा शुद्ध आत्मा के विशेषण हैं। आत्मा के अर्थ में अकुलीन का अर्थ होगा 'न कौ पृथिव्यां लीनः' अर्थात् जो पृथ्वी व संसार में लीन न हो। अन्य दो विशेषण दोनों अर्थों में स्पष्ट ही है। दूसरी पंक्ति का भाव यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार शुष्क और नीरसहृदय व्यक्ति के प्रेम में पड़कर नायिका अनेक शृंगार करने पर भी उसे नहीं लुभा सकती, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा इन्द्रियविषयों द्वारा सदाकाल बन्धन में नहीं रक्खा जा सकता। यही भाव अगले दोहे में भी है। भक्त का प्रेयसी बनकर परमात्मा को प्रेमी के रूप में सम्बोधन करने की प्रणाली पुरानी भक्तिरस–प्रधान कविता में बहुत पाई जाती है।

१०२. तात्पर्य यह कि जब तक थोड़ा भी शरीर का मोह रहेगा तब तक इष्ट-वियोग और अनिष्ट–संयोग से दुःख की उत्पत्ति

ोगी। जब जीव सर्वथा निर्मम हो जाता है तब उस पर सांसारिक द्वन्द्व का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। देखो ऊपर दोहा ७४.

१०३. तात्पर्य यह कि बहुधा लोग कहा करते हैं कि यौवन में संसार के सुखों का पूरा आनन्द लेकर वृद्धावस्था में धर्मसेवन कर लेंगे और अगला भव सुधार लेंगे। किन्तु जब बुढापा आता है तब शरीर की शिथिलता के साथ मन की सब शक्तियां भी नष्ट हो जाती हैं। उस समय धर्मसाधन की कौन कहे परमात्मा का स्मरण करनेवाले भी बहुत थोड़े ही निकलते हैं। अधिकतः लोग आर्तध्यान में ही समय बिताते हैं।

१०४. अर्थात् जिसका मन सांसारिक पदार्थों से हट कर मन के परे जो आत्मा है उसमें स्थिर होगया उसे फिर संसार के मायाजाल में फंसने का डर नहीं रहता।

१०६. दोनों मूल पोथियों में 'सुक्खडा' पाठ है किन्तु इसमें एक मात्रा की कमी होने से छंदोभंग होता है इससे 'सुक्खअडा' पाठ कर दिया गया है।

१०७. 'जोइ' अनुवाद में 'पश्य' के समरूप लिया गया है। यदि उसे 'योगिन्' के समरूप मानें तो यह अर्थ होगा "जो देह से भिन्न, ज्ञानमय है, हे जोगी, वही आत्मा तूँ है।"

१०८. 'पुत्तिए' (पुत्रिके) अम्मिए (अम्बिके) के सदृश सम्बोधनार्थ अव्यय सा प्रतीत होता है। धनपाल कृत

भविसयत्तकहा में आश्चर्य के अर्थ में 'पुत्ति चोज्जु' अव्यय अनेक वार आया है। (देखो भविस. ४, ७, ९ आदि). इसका अर्थ 'अहो आश्चर्य है' ऐसा करना चाहिये। डाक्टर गुणे ने उसे एक ही शब्द के रूप में लिया है।

१०९. जिस प्रकार मूल को छोड़ कर एकदम वृक्ष की डाल पर चढना दुस्साध्य है उसी प्रकार मूल गुणों का पालन किये विना उत्तर गुणों का पालन नहीं हो सकता। इसी भाव के लिये देखो ऊपर दोहा २१.

११०. जिनकी भ्रान्ति मिट गई और चेतनभाव जागृत होगया उनका पर के साथ ऊपरी संसर्ग रहने पर भी कोई कर्मबन्ध नहीं होता। 'आत्मा पर के साथ खेलता है' इसका तात्पर्य यह है कि उसका पर के साथ वना सम्बन्ध नहीं होता, कमलपत्र और जलबिन्दु सदृश साथ रहता है।

१११. यहां करभ से तात्पर्य इंद्रियों सहित मन से है। जिसने मन को जीत लिया वह सब प्रकार मुक्त हो जाता है।

११२. हिन्दी व मराठी में पैगाम लगाम या प्रग्रह को कहते हैं और 'विल्लडिय' कदाचित् 'लड उत्क्षेपणे' धातु से बना है [विलडित]। इसी आधार पर अनुवाद किया गया है।

इसके पश्चात् एक मणकरहा-जयमाल नामक अप्रकाशित अपभ्रंश कविता में हमने निम्न पद्य पढा—

मणकरहु जु बंधिवि घरि धरइ तवविल्लुडी चरावइ।
परियाणिवि कालहो तणिय गइ संजमभंडु भरावइ॥

इस पद्य में 'तवविल्लडी चरावइ' का जो भाव है उस पर से प्रस्तुत दोहे की प्रथम पंक्ति का संस्कृत रूप हमें इस प्रकार जँचा– 'करभ चर जिनगुणस्थल्यां तपोवल्लीं प्रकामम्' जिसका अनुवाद है 'हे करभ! जिनगुण रूपी स्थली में तप रूपी बेल को यथेच्छ चर'। 'चर' का अर्थ 'खाना' और 'आचरण करना' दोनों हैं। यह अर्थ अधिक अच्छा है।

११३. '**भियमडा**' का अर्थ समझ में नहीं आया। प्रसङ्ग से जान पड़ता है कि यह ऊँट की सजावट में उपयोगी किसी वस्तु का नाम है

११४ '**अडुवियद्दहं**' से 'अटव्याः अटवीम्' अर्थ लिया गया है। यह कहां तक ठीक है यह मैं विश्वासपूर्वक नहीं कह सकता।

११५ अनुवाद में 'पत्र' की जगह 'वाट' (मार्ग) होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मार्ग से बहुत दूर जो वृक्ष है उससे पथिकों को कोई लाभ नहीं, इसी प्रकार सन्मार्ग से जो व्यक्ति च्युत है उसके धन वैभव से जीवों का कोई उपकार नहीं हो सकता।

११६. हिन्दू धर्म के षट् दर्शनों के नाम ये हैं– सांख्य,

योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त । इनके पक्षकारों में बहुत काल से वाद विवाद होता रहा है ।

११७. इस दोहे का संस्कृत रूपान्तर ऐसा किया गया है–

आत्मन् ! मुक्त्वा एकं परं अन्यो न वैरी कोऽपि ।
येन विनिर्मितानि कर्माणि यतिः परं स्फेटयति सोऽपि ॥

दूसरी पंक्ति का अन्वय है ' येन कार्माणि विनिर्मितानि (तं) परं (यः) स्फेटयति सोऽपि यतिः ।

१२६. प्रथम पंक्ति का इस प्रकार भी अनुवाद किया जा सकता है– हे मूर्ख, सिद्धान्त और पुराणों को समझ । समझने वालों के भ्रान्ति नही रहती ।

१२८. इस दोहे का कठोपनिषद् के निम्न पद्य से मिलान कीजिये:—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।
१।२।५.

१३६. तात्पर्य यह है कि एकाग्र चित्त से आत्मध्यान में रत रहने वालों के आत्मा में कर्मबन्ध नही होता । तथा जो परमार्थ की इच्छा करता है वह पुण्य–प्रकृतियों के नाश से दुःख नही मानता । अर्थात् परमार्थ की इच्छा करनेवाला और आत्मध्यान में रत रहने वाला पुरुष पापप्रकृतियों के साथ पुण्यप्रकृतियों

का भी नाश कर देता है और नये कोई कर्मबन्ध नहीं करता। इस प्रकार वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है।

१३७. इस दोहे की दूसरी पंक्ति का अर्थ अस्पष्ट है। अनुवाद के अनुसार दोहे का भाव यह है। कोई संसार के गमनागमन अर्थात् जन्म-मरण से मुक्त, त्रैलोक्य में प्रधान आत्मा को देव मानता है, जैसे जैनियों के सिद्ध, और कोई गंगा नदी आदि स्थानों में ही देवत्व की स्थापना करता है। इन दो भावों में प्रथम में सद्‌ज्ञान है और दूसरे में अज्ञान।

१४२ **सुहासुहाजणयं**=शुभ+अशुभ+आजनकम्।

१४६. यह दोहा 'उक्तं च' रूप से श्रुतसागर ने भावप्राभृत की १६२ वीं गाथा की टीका में निम्न रूप में उद्‌धृत किया है:—

सीलु नमंतहं कवणु गुणु भाउ कुसुद्धउ जाहं।
पारद्धी दूणउ नमइ दुकंतउ हरिणाहं॥

१४७. इस दोहे की प्रथम पंक्ति परमात्मप्रकाश २०१ और श्रुतसागर की चारित्र पाहुड़ पर ४१ वीं गाथा की टीका में इस प्रकार पाई जाती है—

णाणविहीणहं मोक्खपउ जीव म कासु वि जोइ।

१५७. इस दोहे का अर्थ अस्पष्ट है। किन्तु ज्ञात होत

है कि विषयलोलुपी व्यक्तियों को लक्ष्य करके दोहा लिखा गया है। भाव ऐसा कुछ प्रतीत होता है कि हे विषयी जीव, जब तक यह शरीर शिथिल नही हुआ तब तक के ही यह तेरे स्पर्श और जिह्वा इन्द्रियों के सुख हैं, जिस प्रकार कि सीप (शुक्ति) का सुख तभी तक है जब तक वह फूटी नही है।

१५८-९ यह शिवपूजन में बेलपत्री चढानेवालों को लक्ष्य करके कहा गया है। बेलपत्रादि हरित वस्तुओं में भी चैतन्य आत्मा का वास है। उनके चढाने से मोक्ष नही मिलता। मोक्ष का मार्ग तो एक आत्मध्यान है।

१६०. यह शिवपूजन के लिये पत्ती तोडनेवालों को हास्यरूप में कहा गया है कि यदि शिवदेव को पत्ती प्रिय है तो उन्हे ही वृक्ष पर क्यों न चढा दिया जाय जिससे वे मनमानी पत्ती खा सकें?

१६४. यहां दो'न' का भाव प्रकृत्यर्थ सूचक नही है।

१६५. यहां 'एक्कु' से तात्पर्य जीव, आत्मा या चैतन्य से और 'अण्णु' का अजीव, अचेतन, जड पदार्थों से है। दूसरी पंक्ति में 'तासु' का सम्बन्ध आत्मा से है। इस आत्मा का ज्ञान केवल स्वानुभव से ही हो सकता है, पूछा पूछी या लिखने पढने आदि से नही। इस भाव का कठोपनिषद् के निम्न पद्य से मिलान कीजिये

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥
१, २, २३.

१६६. इस दोहे का कठोपनिषद् के निम्न वाक्यों से मिलान कीजिये—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
श्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ १, २, ७.
नैषा तर्केण मतिरापनीया।
प्रोक्तान्येन सुज्ञानाय प्रेष्ठ॥ १, २, ९.

१६७. दोहे का मुख्य तात्पर्य क्या है यह स्पष्ट नहीं हुआ। सम्भवतः उसका भाव यह है कि 'वादे वादे जायते तत्वबोधः'।

१६८. इस दोहे के भाव का अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ के निम्न लिखित पद्यों के भाव से मिलान कीजिये—

Have not we too ? yes, we have,
Answers, and we know not whence;
Echoes from beyond the grave,
Recognised intelligence !
Such rebounds our inward ear
Catches sometimes from afar—
Listen, ponder, hold them dear;
For of god – of god they are.

१७०–१७२ इन तीन दोहों में योग व ध्यान की उस अवस्था का वर्णन है जिसे वेदान्त में निर्विकल्पक समाधि कहा है। उस समय योगी को लय, विक्षेप, कषाय और रस इन चार विघ्नों से सचेत रहना चाहिये जैसा गौडपाद कारिका ३, ४४–४५ में कहा है—

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत्॥
नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्॥

इसी अवस्था को जैनाचार्यों ने रूपातीत ध्यान कहा है जिसके सम्बंध में शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में कहा है—

वदन्ति योगिनो ध्यानं चित्तमेवमनाकुलम्।
कथं शिवत्वमापन्नमात्मानं संस्मरेन्मुनिः॥१७॥
विवेच्य तद्गुणग्रामं तत्स्वरूपं निरूप्य च।
अनन्यशरणो ज्ञानी तस्मिन्नेव लयं व्रजेत्॥१८॥

[प्रकरण ४०]

१७४. मन की वेल का चारण न होने दिया, अर्थात् मन की वेल को न बढ़ने दिया, अर्थात् मन का लय कर डाला। हम 'ण' को 'नु' (ननु) के अर्थ में लेकर यह अर्थ भी कर सकते हैं कि जिसने मन की वेल को चरा डाली अर्थात् नष्ट कर दी। सावयधम्मदोहा में 'ण' नु के अर्थ में कई वार आया है।

१७७ यह दोहा जिस रूप में है उससे उसकी दूसरी

पंक्ति का कुछ स्पष्ट अर्थ समझ में नहीं आता। यही दोहा हेम-चन्द्र ने अपनी प्राकृत व्याकरण के ४ थे पाद के ३९६ सूत्र के उदाहरण में इस प्रकार उद्धृत किया है—

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीसु।
पाणिउ णवइ सरावि जिवँ सव्वंगे पइसीसु॥

इसका अर्थ है-यदि किसी प्रकार मैं अपने प्रिय को पा जाऊँ तो अपूर्व कौतुक करूँ। नये सकोरे (मिट्टी के प्याले) में रक्खे हुए पानी के सदृश मैं उसके सर्वांग में प्रवेश कर जाऊं। (या मैं उसमें सर्वांग प्रवेश कर जाऊं)। यह भाव परमात्मध्यान के सम्बन्ध में भी अच्छी तरह योजित किया जा सकता है। सम्भवतः हमारे ग्रंथ के दोहे का भी यही शुद्ध रूप है। लिपिकारों के उसका अर्थ न समझने के कारण उसका पाठ भ्रष्ट हो गया है।

१८१. अर्थात् मनुष्य अपने दायें वायें जो इन्द्रियों के विषय हैं उनमें तो चित्त देता है किन्तु अपने ही बीच में जो परमात्मा निवास करता है उसकी ओर ध्यान नहीं देता। योगी वही है जो उस ओर ध्यान दे। योगशास्त्र में वाम और दक्षिण इड पिंगला नाडियों के अर्थ में भी आते हैं।

१८२. यह दोहा मृत्यु अवस्था या निर्विकल्पक समाधि अर्थात् रूपातीत ध्यान के सम्बन्ध में योजित किया जा सकता है उक्त दोनों अवस्थाओं में आत्मा शान्त भाव में लीन हो जाता।

और शरीर शून्य पड़ जाता है। इसका 'परमात्म प्रकाश' के निम्न दोहे से मिलान कीजिये—

देहि वसंतें जेण पर इंदियगामु वसेइ।
उव्वसु होइ गएण फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥ ४४ ॥

१८३. इस दोहे में शिष्य पूर्वोक्त रूपातीत ध्यान या निर्विकल्पक समाधि का उपदेश मांगता है।

१८४. **सकलीकरण** एक विधान है जो देवाराधना, देव-प्रतिष्ठादि में विघ्नशान्ति के हेतु किया जाता है। इसके लिये देखिये जयसेन कृत प्रतिष्ठापाठ ३७२–३७५; व आशाधर कृत प्रतिष्ठासारोद्धार २,५२–७०. इस विधान का महत्त्व आशाधरजी ने इस प्रकार बतलाया है—

वर्मितोऽनेन सकलीकरणेन महात्मना।
कुर्वन्निष्टानि कर्माणि केनापि न विहन्यते ॥

प्रतिष्ठा. २, ७०.

गुजराती में 'गांगडी' का अर्थ छोटा सा टुकड़ा होता है। उसी पर से अनुवाद में गंगडु का क्षुद्र अर्थ किया गया है जो देव का या पूजक का विशेषण माना जा सकता है। 'गंगडु देउ' का अर्थ गंगा के देव भी हो सकता है। ग्रंथकार ने दोहा १३७ में भी गंगा में देवता माने जाने की समालोचना की है। प्रस्तुत दोहे में ग्रंथकार सम्भवतः पूजा प्रतिष्ठा सम्बंधी कर्मकाण्ड का खंडन कर रहे हैं,

जिसमें सकलीकरण क्रिया की जाती है तथा कमल के अष्ट पत्रों पर आठ प्रकार के जल-देवताओं का पूजन किया जाता है। इस पूजन में गंगादि देवताओं का आह्वान इस प्रकार किया जाता है—

गंगादिदिव्यसरिदंबुविभूतिभोक्त्री
गंगादिदैवतवधूर्विधिपूर्वमेताः।
अबुगंधतंदुललतांतचरुप्रदीप--
धूपप्रसूनकुसुमाञ्जलिभिर्यजेऽस्मिन् ॥

प्रतिष्ठासार. २।४३.

ग्रंथकार का कहना है कि आराधक न तो सकलीकरण के मर्म को समझता, न जिसे पूजता है उस कमलपत्र और जिससे पूजता है उस पानी के भेद को समझता, न आत्मा और पर के भेद को समझता। केवल ज्ञानहीन रूप से क्षुद्र गंगादि देवताओं की पूजा करता है।

१८८. यहां दो पंथों से कवि का क्या तात्पर्य है यह कहना कठिन है। क्या भक्ति और ज्ञान, या ज्ञान और कर्म से मतलब है? भगवद्गीता में दो प्रकार की निष्ठा बतलाई गई है, यथा

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३, ३.

सम्भव है यहां कवि लौकिक और पारलौकिक या भौतिक और आधिभौतिक सुख की बात सोच रहे हैं। उनका कहना

है कि जो व्यक्ति अंध विश्वासों और सारहीन क्रियाओं को धर्म समझते हैं वे न भौतिक सुखों का ही लाभ उठाते और न आत्मा का ही कुछ कल्याण करते। दोहा १०५ में कवि ने नरक और स्वर्ग को जाने के दो पथों का उल्लेख किया है। आगे दोहा २१३ में इंद्रियसुख और मोक्ष के दो मार्गों का उल्लेख है।

१९०. इस दोहे में कवि ने मुक्ति के असाधारण स्वरूप का वर्णन किया है। साधारण नियम यह है कि जीवधारियों को बांध लेने से उनकी गति रुक जाती है और बन्धन से छूटने पर वे चारों ओर भ्रमण करते हैं। किन्तु आत्मा का स्वरूप इससे विपरीत है। कर्म के बन्धन में बंधा हुआ आत्मा संसार की अनेक योनियों में भ्रमण करता है, किन्तु मुक्त होने पर सब आवागमन से रहित हो जाता है। इस प्रकार यह आत्मारूपी करहा विचित्र ही है।

१९१. इस दोहे का अर्थ कुछ अस्पष्ट है। अनुवाद में रहन्तु का अर्थ रक्षत् लिया गया है। 'रह' धातु का अर्थ छोड़ना, त्यागना होता है। 'अवराडइहिं' का अर्थ 'अवरकानि' [अपराणि] लिया गया है वह भी सन्देह से परे नही है। खंधावारिउ (स्कंधावारितः) का अर्थ 'इन्द्रियों की फौज सहित' लिया गया है। अनुवाद के अतिरिक्त और कोई अर्थ मुझे यहां युक्तिसंगत नही जँचता।

१९२. इस दोहे का तात्पर्य भगवद्गीता के निम्न श्लोक के समान है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ २।६९.

मोक्षपाहुड की ३१ वीं गाथा की टीका में श्रुतसागर ने निम्न दोहा उद्धृत किया है:—

जा निसि सयलहं देहियहं जोग्गिउ तहिं जग्गेइ।
जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु सा निसि भणिवि सुएइ॥

१९३. संचित कर्मों के नाश करने को जैन सिद्धान्त में निर्जरा, और नये कर्मों के मार्ग को रोकने को संवर कहा है। इन दोनों क्रियाओं के पूर्ण होने पर मोक्ष होता है। यह दोहा थोड़े से भिन्न रूप में ऊपर नं. ७७ पर आ चुका है।

२०६. दोहे का तात्पर्य यह है कि समस्त मंत्रतंत्रादि क्रियाओं से रहित होकर, ध्येय, ध्यायक और ध्यान की विभिन्नता को भूलकर योगी आनन्द से सोता है, उसे इस संसार का कलकल रुचिप्रद नहीं होता

२०८. क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन और ब्रह्मचर्य, ये धर्म के दश अंग हैं। इनका सुन्दर वर्णन अपभ्रंश भाषा में रइधू कवि ने अपने 'दहलक्खण जयमाल' में किया है।

२११. अणुपेहा—अनुप्रेक्षा, अनुचिन्तन या भावना को कहते हैं। अंतरंग शुद्धि तथा वैराग्य भाव बढाने के लिये जैन धर्म में बारह भावनाएँ मानी गई हैं। ये बारह भावनाएँ हैं— अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक, धर्म और बोध। इनका वर्णन अपभ्रंश 'करकंडचरिउ' की नवमीं सन्धि में या कुन्दकुन्दाचार्य-कृत प्राकृत 'बारस अणुवेक्खा' में देखिये।

२१३. दो पंथों का उल्लेख दोहा १०५ और १८८ में आ चुका है। योग के कुछ ग्रंथों में वाम और दक्षिण मार्ग को छोड़ने का उल्लेख पाया जाता है।

२१४. कवि का तात्पर्य यह है कि उपवास से शरीर को संताप पहुंचता है और इसी संताप से यह इन्द्रियों का निवास दग्ध हो जाता है और आत्मा मुक्त हो जाता है।

२१५. यह दोहा कुछ भिन्न रूप में 'सावयधम्मदोहा' में भी है। उसके पाठ और अर्थ के लिये देखो सावय. ३०.

२१६. तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जिसे चलते फिरते माणिक्य मिल जाता है तो वह उसे चुपचाप अपने अंचल में बांध लेता है और एकान्त में उसका निरूपण करता है, ठीक उसी प्रकार यदि आत्मज्ञान का अंकुर हृदय में जम गया हो तो संसार के जंजाल से पृथक् होकर स्वानुभव में चित्त को लगाना चाहिये।

२१७. रत्ता गउपाविंयइं=गोपायिते रक्ताः। आप्टे कृत संस्कृत अंग्रेजी कोष में गोपयति का एक अर्थ to shine; to speak भी दिया हुआ है इसी पर से अनुवाद में अपनी श्लाघा करने का अर्थ लिया गया है। उसी प्रकार 'गुप्यति' का अर्थ उक्त कोष में to be confused or disturbed दिया गया है, उसी पर से गुप्पंत=गुप्यन्तः का अर्थ 'भ्रान्त हुए' किया गया है। इस पंक्ति का अर्थ यों भी किया जा सकता है 'जो अपनी रक्षा में रत हैं वे छिपे छिपे भ्रमण करते फिरते हैं'। किन्तु पहला अर्थ इससे अच्छा है।

२१८. इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि ज्ञान ही सब जीवन का सार है, क्योंकि उससे ही कर्मों का नाश होकर परम पद की प्राप्ति होती है। आहार शरीर के पोषण के लिये किया जाता है और शरीर का उपयोग ज्ञान सम्पादन में है। इस प्रकार आहार और शरीर भी अन्ततः ज्ञान के ही लिये हैं।

२१९–२२०. प्रश्न यह है कि प्रकृति में जो काल, वायु, सूर्य और चन्द्र ये चार शक्तियां दिखाई देती हैं उनमें प्रधान कौन है? किस शक्ति द्वारा इनका विनाश होता है? उत्तर है कि सूर्य, चन्द्र और पवन का कार्य काल के ऊपर निर्भर है। काल ही के द्वारा इनका प्रलय होता है। जैन सिद्धान्तानुसार सब द्रव्यों में परिवर्तन करनेवाला कालद्रव्य ही है। यथा—

यद्मी परिवर्तन्ते पदार्थो विश्ववर्तिनः ।
नवजीर्णादिरूपेण तत्कालस्यैव चेष्टितम् ॥

शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णव ६।३८.

चन्द्र में वनस्पतियों के पोषण करने की शक्ति है इसी लिये उसे ' ओषधीनाम् पतिः ' भी कहा है ।

' सत्त रज्जु तम पिल्लि करि ' [सात रज्जु अंधकार को पेल कर] रज्जु जैन सिद्धान्त में एक माप है । इसके अनुसार समस्त लोकाकाश चौदह रज्जु ऊंचा माना गया है । मध्यलोक ठीक बीच में है उससे सात रज्जु नीचे तक अधोलोक, तथा सात रज्जु ऊपर तक ऊर्ध्वलोक है, यथा—

आयामस्तु त्रिलोकानां स्याच्चतुर्दश रज्जवः ।
सप्ताधो मंदरादूर्ध्वं सार्द्धं तेनैव सप्त ताः ॥

हरिवंशपुराण ४, ११.

तात्पर्य यह है कि काल का अधिकार मध्यलोक से सात रज्जु ऊपर और नीचे तक है । इतने में वह पदार्थों में परिवर्तन करता रहता है । कुछ तांत्रिक ग्रंथों में चन्द्र और सूर्य शरीर की आंतरिक शक्तियों के लिये भी प्रयोग में आये हैं ।

२२१. प्राणान् संचरते का अर्थ ' प्राणान् संचारयति ' ऐसा लेना ठीक होगा । जो मुख और नासिका के बीच

प्राणवायु का संचार करता है और आकाश में सदा विचरण करता है उसी वायु से जीवों का सांसारिक जीवन है।

२२२. इस दोहे का अभिप्राय भव्य और अभव्य जीवों से है। ग्रंथकार अन्त में कहते हैं कि जिस प्रकार मूर्च्छित व्यक्ति थोड़े से उपचार से सचेत हो जाता है, किन्तु जो मृत हो चुका है वह हजार उपायों से भी नहीं जी सकता; उसी प्रकार जो भव्य जीव हैं वे इस थोड़े से उपदेश से सन्मार्ग पर लगकर आत्म कल्याण कर लेंगे, किन्तु जो अभव्य हैं उनको इससे कोई लाभ न होगा।

दोहों की वर्णानुक्रमणिका